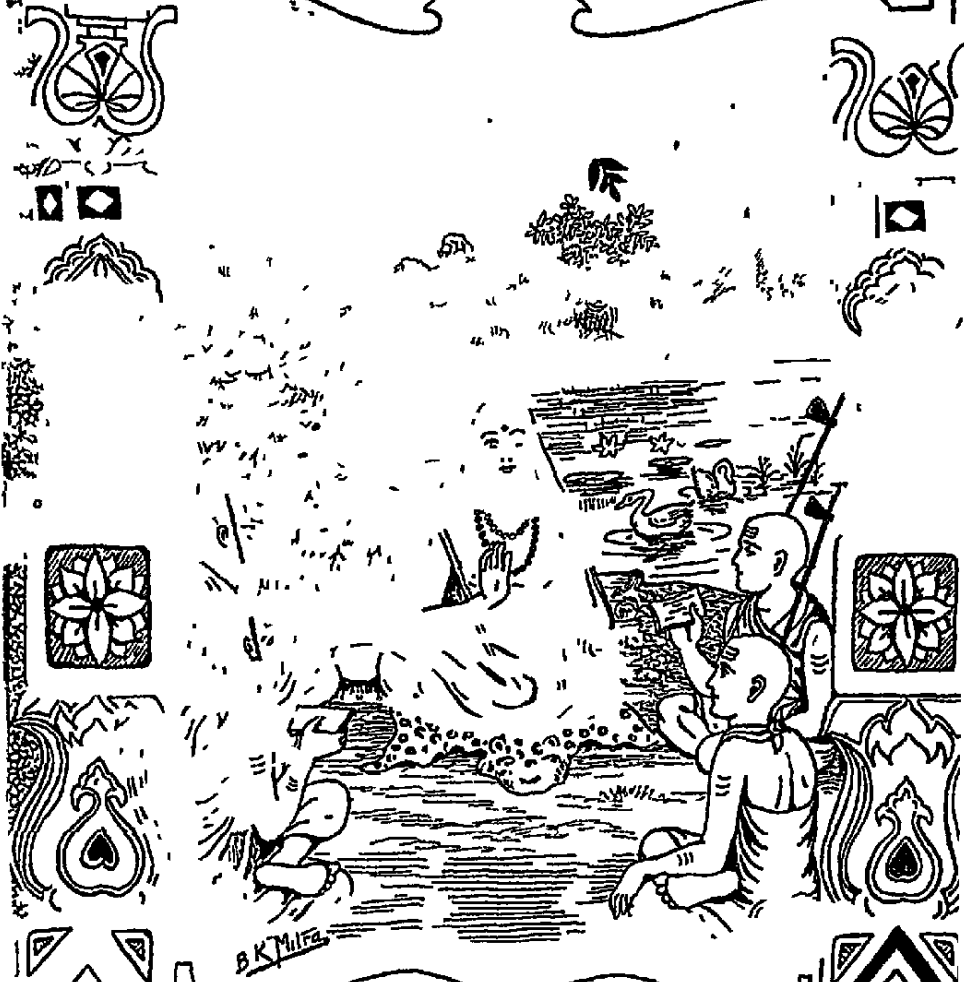


तैत्तिरीयोपनिषद्



गीताप्रेस, गोरखपुर

तैत्तिरीयोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

प्रकाशक

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान,
गीता प्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३
प्रथम संस्करण
३२५०

मूल्य ॥१- तेरह आना

निवेदन

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यकके प्रपाठक ७, ८ और ९ का नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है । इनमें सप्तम प्रपाठक, जिसे तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्ली कहते हैं, सांहिती उपनिषद् कही जाती है और अष्टम तथा नवम प्रपाठक, जो इस उपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली हैं, वारुणी उपनिषद् कहलाती हैं । इनके आगे जो दशम प्रपाठक है उसे नारायणोपनिषद् कहते हैं, वह याज्ञिकी उपनिषद् है । इनमें महत्त्वकी दृष्टिसे वारुणी उपनिषद् प्रधान है; उसमें विशुद्ध ब्रह्मविद्याका ही निरूपण किया गया है । किन्तु उसकी उपलब्धिके लिये चित्तकी एकाग्रता एवं गुरुकृपाकी आवश्यकता है । इसके लिये शीक्षावल्लीमें कई प्रकारकी उपासना तथा शिष्य एवं आचार्यसम्बन्धी शिष्टाचारका निरूपण किया गया है । अतः औपनिषद् सिद्धान्तको हृदयंगम करनेके लिये पहले शीक्षावल्ल्युक्त उपासनादिका ही आश्रय लेना चाहिये । इसके आगे ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्लीमें जिस ब्रह्मविद्याका निरूपण है उसके सम्प्रदायप्रवर्तक वरुण हैं; इसलिये वे दोनों वल्लियाँ वारुणी विद्या अथवा वारुणी उपनिषद् कहलाती हैं ।

इस उपनिषद्पर भगवान् शङ्कराचार्यने जो भाष्य लिखा है वह बहुत ही विचारपूर्ण और युक्तियुक्त है । उसके आरम्भमें ग्रन्थका

उपोद्घात करते हुए भगवान् ने यह बतलाया है कि मोक्षरूप परम-निःश्रेयसकी प्राप्ति एकमात्र हेतु ज्ञान ही है । इसके लिये कोई अन्य साधन नहीं है । मीमांसकोंके मतमें 'स्वर्ग' शब्दवाच्य निरतिशय प्रीति (प्रेय) ही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति साधन कर्म है । इस मतका आचार्यने अनेकों युक्तियोंसे खण्डन किया है और स्वर्ग तथा कर्म दोनोंहीकी अनित्यता सिद्ध की है ।

इस प्रकार आरम्भ करके फिर इस वल्लीमें बतलायी हुई भिन्न-भिन्न उपासनादिकी संक्षिप्त व्याख्या करते हुए इसके उपसंहारमें भी भगवान् भाष्यकारने कुछ विशद विचार किया है । एकादश अनुवाकमें शिष्यको वेदका स्वाध्याय करानेके अनन्तर आचार्य सत्यभाषण एवं धर्माचरणादिका उपदेश करता है तथा समावर्तन संस्कारके लिये आदेश देते हुए उसे गृहस्थोचित कर्मोंकी भी शिक्षा देता है । वहाँ यह बतलाया गया है कि देवकर्म, पितृकर्म तथा अतिथिपूजनमें कभी प्रमाद न होना चाहिये; दान और स्वाध्यायमें भी कभी भूल न होनी चाहिये, सदाचारकी रक्षाके लिये गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए उन्हींके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये—किन्तु वह अनुकरण केवल उनके सुकृतोंका हो, दुष्कृतोंका नहीं । इस प्रकार समस्त वल्लीमें उपासना एवं गृहस्थजनोचित सदाचारका ही निरूपण होनेके कारण किसीको यह आशंका न हो जाय कि ये ही मोक्षके प्रधान साधन हैं इसलिये आचार्य फिर मोक्षके साक्षात् साधनका निर्णय करनेके लिये पाँच विकल्प करते हैं—(१) क्या परम श्रेयकी प्राप्ति केवल कर्मसे हो सकती है ? (२) अथवा विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे (३) किंवा कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे (४) या कर्मकी अपेक्षावाले ज्ञानसे (५) अथवा केवल ज्ञानसे ? इनमेंसे अन्य सब पक्षोंको सदोष सिद्ध करते हुए आचार्यने यही निश्चय किया है कि केवल ज्ञान ही मोक्षका साक्षात् साधन है ।

इस प्रकार शिक्षावल्लीमें संहितादिविषयक उपासनाओंका निरूपण कर फिर ब्रह्मानन्दवल्लीमें ब्रह्मविद्याका वर्णन किया गया है । इसका पहला

वाक्य है—‘ब्रह्मविदामोति परम्’ । यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह सूत्रभूत वाक्य ही सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका बीज है । ब्रह्म और ब्रह्मवित्के स्वरूपका विचार ही तो ब्रह्मविद्या है और ब्रह्मवेत्ताकी परप्राप्ति ही उसका फल है; अतः निःसन्देह यह वाक्य फलसहित ब्रह्मविद्याका निरूपण करनेवाला है । आगेका समस्त ग्रन्थ इस सूत्रभूत मन्त्रकी ही व्याख्या है । उसमें सबसे पहले ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इस वाक्यद्वारा श्रुति ब्रह्मका लक्षण करती है । इससे ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर उसकी उपलब्धि के लिये पञ्चकोशका विवेक करनेके अभिप्रायसे उसने पक्षीके रूपकद्वारा पाँचों कोशोंका वर्णन किया है और उन सबके आवार-रूपसे सर्वान्तरतम परब्रह्मका ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इस वाक्यद्वारा निर्णय किया है । इसके पश्चात् ब्रह्मकी असत्ता माननेवाले पुरुषकी निन्दा करते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा की है और उसे ‘सत्’ बतलाया है । फिर ब्रह्मका सार्वभौम्य प्रतिपादन करनेके लिये ‘सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेय’ इत्यादि वाक्यद्वारा उसीको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बतलाया है ।

इस प्रकार सत्संज्ञक ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति दिखलाकर फिर सत्तम अनुवाकमें असत्से ही सत्की उत्पत्ति बतलायी है । किन्तु यहाँ ‘असत्’ का अर्थ अभाव न समझकर अव्याकृत ब्रह्म समझना चाहिये और ‘सत्’ का व्याकृत जगत्, क्योंकि अत्यन्ताभावसे किसी भावपदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्तिसे पूर्व सारे पदार्थ अव्यक्त थे ही । इसलिये ‘असत्’ शब्द अव्याकृत ब्रह्मका ही वाचक है । वह ब्रह्म रसस्वरूप है; उस रसकी प्राप्ति होनेपर यह जीव रसमय—आनन्दमय हो जाता है । उस रसके लेशसे ही सारा संसार सजीव देखा जाता है । जिस समय साधनाका परिपाक होनेपर पुरुष इस अदृश्य अशरीर अनिर्वाच्य और अनाश्रय परमात्मामें स्थिति लाभ करता है उस समय वह सर्वथा निर्भय हो जाता है; और जो उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है ।

अतः ब्रह्ममें स्थित होना ही जीवकी अभयस्थिति है, क्योंकि वहाँ भेदका सर्वथा अभाव है और भय भेदमें ही होता है 'द्वितीयाद्धं भयं भवति' ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठकी अभयप्राप्तिका निरूपण कर ब्रह्मके सर्वान्तर्यामित्व और सर्वशासकत्वका वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताके आनन्दकी सर्वोत्कृष्टता दिखलायी है । वहाँ मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, आजानज-देव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा इन सबके आनन्दोंको उत्तरोत्तर शतगुण बतलाते हुए यह दिखलाया है कि निष्काम ब्रह्मवेत्ताको वे सभी आनन्द प्राप्त हैं । क्यों न हों ? सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण क्या वह इन सभीका आत्मा नहीं है । अतः सर्वरूपसे वही तो सारे आनन्दोंका भोक्ता है । भोक्ता ही क्यों, सर्व-आनन्दस्वरूप भी तो वही है, सारे आनन्द उसीके स्वरूपभूत आनन्द-नहोदधिके क्षुद्रातिक्षुद्र कण ही तो हैं ।

इसके पश्चात् हृदयपुण्डरीकस्थ पुरुषका आदित्यसण्डलस्थ पुरुषके साथ अभेद करते हुए यह बतलाया है कि जो इन दोनोंका अभेद जानता है वह इस लोक अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूहसे निवृत्त होकर इस समष्टि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार सारा प्रपञ्च उसका अपना शरीर हो जाता है—उसके लिये अपनेसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता । उस निर्भय और अनिर्वाच्य स्वात्मतत्त्वकी जिसे प्राप्ति हो जाती है । उसे न तो किसीका भय रहता है और न किसी कृत या अकृतका अनुताप ही । जब अपनेसे भिन्न कुछ है ही नहीं तो भय किसका और क्रिया कैसी ? क्रिया तो देश, काल या वस्तुका परिच्छेद होनेपर ही होती है; उस एक, अखण्ड, अमर्यादित, अद्वितीय वस्तुमें किसी प्रकारकी क्रियाका प्रवेश कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार ब्रह्मानन्दबल्लीमें ब्रह्मविद्याका निरूपण कर भृगुबल्लीमें उसको प्राप्ति का मुख्य साधन पञ्चकोश-विवेक दिखलानेके लिये वरुण और भृगुका आख्यान दिया गया है । आत्मतत्त्वका जिज्ञासु भृगु अपने

पिता वरुणके पास जाता है और उससे प्रश्न करता है कि जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्तमें जिसमें ये लीन हो जाते हैं उस तत्त्वका मुझे उपदेश कीजिये । इसपर वरुणने अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये ब्रह्मोपलब्धिके छः मार्ग बतलाकर उसे तप करनेका आदेश किया और कहा कि 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञास्व । तपो ब्रह्म'—तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है । भृगुने जाकर मनःसमाधानरूप तप किया और इन सबमें अन्नको ही ब्रह्म जाना । किन्तु फिर उसमें सन्देह हो जानेपर उसने फिर वरुणके पास आकर वही प्रश्न किया और वरुणने भी फिर वही उत्तर दिया । इसके पश्चात् उसने प्राणको ब्रह्म जाना और इसी प्रकार पुनः-पुनः सन्देह होने और पुनः-पुनः वरुणके वही आदेश देनेपर अन्तमें उसने आनन्दको ही ब्रह्म निश्चय किया ।

यहाँ ब्रह्मज्ञानका प्रथम द्वार अन्न था । इसीसे श्रुति यह आदेश करती है कि अन्नकी निन्दा न करे—यह नियम है, अन्नका तिरस्कार न करे—यह नियम है और खूब अन्नसंग्रह करे—यह भी नियम है । यदि कोई अपने निवासस्थानपर आवे तो उसकी उपेक्षा न करे; सामर्थ्यानुसार अन्न, जल एवं आसनादिसे उसका अवश्य सत्कार करे । ऐसा करनेसे वह अन्नवान्, कीर्तिमान् तथा प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होता है । इस प्रकार अन्नकी महिमाका वर्णन कर भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें भिन्न-भिन्नरूपसे उसकी उपासनाका विधान किया गया है । उस उपासनाके द्वारा जब उसे अपने सार्वत्रिकताका अनुभव होता है उस समय उस लोकोत्तर आनन्दसे उन्मत्त होकर वह अपनी कृतकृत्यताको व्यक्त करते हुए अत्यन्त विस्मयपूर्वक गा उठता है—‘अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अहंश्लोककृदहंश्लोककृदहंश्लोककृत्’ इत्यादि । उसकी यह उन्मत्तोक्ति उसके कृतकृत्य हृदयका उद्गार है, यह उसका अनुभव है, और यही है उसके आध्यात्मिक संग्रामके अयत्नसाध्य भगवत्कृपालम्ब्य विजयका उद्घोष ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद्का प्रधान लक्ष्य ब्रह्म-ज्ञान ही है । इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी और शृङ्खलाबद्ध है । भगवान् शङ्कराचार्यने इसके ऊपर जो भाष्य लिखा है वह भी बहुत विचारपूर्ण है । आशा है, विज्ञान उससे यथेष्ट लाभ उठानेका प्रयत्न करेंगे ।

इस उपनिषद्के प्रकाशनके साथ प्रथम आठ उपनिषदोंके प्रकाशनका कार्य समाप्त हो जाता है । हमें इनके अनुवादमें श्रीविष्णु-वापटशास्त्रीकृत मराठी-अनुवाद, श्रीदुर्गाचरण मजूमदारकृत बँगला-अनुवाद, ब्रह्मनिष्ठ पं० श्रीपीताम्बरजीकृत हिन्दी-अनुवाद और महा-महोपाध्याय डा० श्रीगंगानाथजी झा एवं पं० श्रीसीतारामजी शास्त्रीकृत अंग्रेजी अनुवादसे यथेष्ट सहायता मिली है । अतः हम इन सभी महानुभावोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं । फिर भी हमारी अल्पज्ञताके कारण इनमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह जानी स्वाभाविक हैं । उनके लिये हम कृपालु पाठकोंसे सविनय क्षमाप्रार्थना करते हैं और आशा करते हैं कि वे उनकी सूचना देकर हमें अनुगृहीत करेंगे, जिससे कि हम अगले संस्करणमें उनके संशोधनका प्रयत्न कर सकें । हमारी इच्छा है कि हम शीघ्र ही छान्दोग्य और बृहदारण्यक भी हिन्दीसंसारके सामने रख सकें । यदि विचारशील वाचकवृन्दने हमें प्रोत्साहित किया तो बहुत सम्भव है कि हम इस सेवामें शीघ्र ही सफल हो सकें ।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची



विषय	पृष्ठ
१. शान्तिपाठ	१
श्रीक्षावल्ली	
प्रथम अनुवाक	
२. सम्बन्ध-भाष्य	२
३. श्रीक्षावल्लीका शान्तिपाठ	९
द्वितीय अनुवाक	
४. श्रीक्षाकी व्याख्या	१३
तृतीय अनुवाक	
५. पाँच प्रकारकी संहितोपासना	१५
चतुर्थ अनुवाक	
६. श्री और बुद्धिकी कामनावालोंके लिये जप और होम-सम्बन्धी मन्त्र	२१
पञ्चम अनुवाक	
७. व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासना	२९
षष्ठ अनुवाक	
८. ब्रह्मके साक्षात् उपलब्धिस्थान हृदयाकाशका वर्णन	३५
सप्तम अनुवाक	
९. पाङ्क्तिरूपसे ब्रह्मकी उपासना	४२
अष्टम अनुवाक	
१०. ओङ्कारोपासनाका विधान	४५

नवम अनुवाक

११. ऋतादि शुभ कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका विधान ... ४९

दशम अनुवाक

१२. त्रिशङ्कुका वेदानुवचन ... ५३

एकादश अनुवाक

१३. वेदाध्ययनके अनन्तर शिष्यको आचार्यका उपदेश ... ५६

१४. मोक्ष-साधनकी मीमांसा ... ६६

द्वादश अनुवाक ८१

ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथम अनुवाक

१५. ब्रह्मानन्दवल्लीका शान्तिपाठ ... ८२

१६. ब्रह्मज्ञानके फल, सृष्टिक्रम और अन्नमय कोशरूप पक्षीका वर्णन ... ८४

द्वितीय अनुवाक

१७. अन्नकी महिमा तथा प्राणमय कोशका वर्णन ... ११२

तृतीय अनुवाक

१८. प्राणकी महिमा और मनोमय कोशका वर्णन ... ११८

चतुर्थ अनुवाक

१९. मनोमय कोशकी महिमा तथा विज्ञानमय कोशका वर्णन ... १२६

पञ्चम अनुवाक

२०. विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय कोशका वर्णन ... १२९

षष्ठ अनुवाक

२१. ब्रह्मको सत् और असत् जाननेवालोंका भेद, ब्रह्मज्ञ और अब्रह्मज्ञकी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें शङ्का तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चरूपसे ब्रह्मके स्थित होनेका निरूपण ... १३८

सप्तम अनुवाक

२२. ब्रह्मकी सुकृतता एवं आनन्दरूपताका तथा ब्रह्मवेत्ताकी अभय-प्राप्तिका वर्णन ... १६१

अष्टम अनुवाक

२३. ब्रह्मानन्दके निरतिशयत्वकी मीमांसा ... १७०

२४. ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिका उपसंहार ... १७९

नवम अनुवाक

२५. ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले विद्वान्की अभयप्राप्ति ... १९६

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

२६. भृगुका अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न करना तथा वरुणका ब्रह्मोपदेश ... २०१

द्वितीय अनुवाक

२७. अन्न ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना ... २०६

तृतीय अनुवाक

२८. प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसीमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना ... २०८

चतुर्थ अनुवाक

२९. मन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना ... २०९

पञ्चम अनुवाक

३०. विज्ञान ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना ... २१०

षष्ठ अनुवाक

३१. आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा भृगुका निश्चय करना, तथा इस भार्गवी वारुणी विद्याका महत्त्व और फल ... २११

सप्तम अनुवाक

३२. अन्नकी निन्दा न करनारूप व्रत तथा शरीर और प्राणरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन ... २१४

अष्टम अनुवाक

३३. अन्नका त्याग न करनारूप व्रत तथा जल और ज्योतिरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन ... २१६

नवम अनुवाक

३४. अन्नसञ्चयरूप व्रत तथा पृथिवी और आकाशरूप अन्नब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन ... २१७

दशम अनुवाक

३५. गृहागत अतिथिको आश्रय और अन्न देनेका विधान एवं उससे प्राप्त होनेवाला फल, तथा प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन ... २१८
३६. आदित्य और देहोपाधिक चेतनकी एकता जाननेवाले उपासकको मिलनेवाला फल ... २२९
३७. ब्रह्मवेत्ताद्वारा गाया जानेवाला साम ... २३३
३८. शान्तिपाठ ... २३७





वरुण और भृगु

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

तैत्तिरीयोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

—ॐॐॐॐॐ—

सर्वाशाश्वान्तनिर्मुक्तं सर्वाशाभास्करं परम् ।

चिदाकाशावतंसं तं सद्गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥

—ॐॐॐॐॐ—

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वयमा ।
शं न इन्द्रो वृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु
माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



श्रीक्षेत्रवल्ली



प्रथम अनुवाक

सम्बन्ध-भाष्य

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते ।

येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ १ ॥

जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें ही वह लीन होता है और जिसके द्वारा वह धारण भी किया जाता है उस ज्ञानस्वरूपको मेरा नमस्कार है ।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः ।

व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

पूर्वकालमें जिन गुरुजनोंने पद, वाक्य और प्रमाणोंके विवेचन-पूर्वक इन सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या की है उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ।

तैत्तिरीयकसारस्य मयाचार्यप्रसादतः ।

विस्पष्टार्थरुचीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते ॥ ३ ॥

जो स्पष्ट अर्थ जाननेके इच्छुक हैं उन पुरुषोंके लिये मैं श्रीआचार्यकी कृपासे तैत्तिरीयशाखाके सारभूत इस उपनिषद्की व्याख्या करता हूँ ।



नित्यान्यधिगतानि कर्माण्यु-

उपक्रमः

पात्तदुरितक्षयार्था-
नि, काम्यानि च

फलार्थिनां पूर्वसिन्धुग्रन्थे । इदानीं
कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्म-
विद्या प्रस्तूयते ।

कर्महेतुः कामः स्यात् ।

आत्मविदेवास- प्रवर्तकत्वात् । आ-
कामो भवति स्रकामानां हि कामा-

भावे स्वात्मन्यवस्थानात् प्रवृत्त्य-
नुपपत्तिः । आत्मकामित्वे चाप्त-

कामता; आत्मा हि ब्रह्म;
तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति ।

अतोऽविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्य-
वस्थानं परप्राप्तिः । “अभयं

प्रतिष्ठां विन्दते” (तै० उ० २।

७। १) “एतमानन्दमयमात्मा-

नष्टुपसंक्रामति” (तै० उ० २।

८। १२) इत्यादिश्रुतेः ।

सञ्चित पापोंका क्षय ही जिनका
मुख्य प्रयोजन है ऐसे नित्यकर्मोंका
तथा सकाम पुरुषोंके लिये विहित
काम्यकर्मोंका इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थमें
[अर्थात् कर्मकाण्डमें] परिज्ञान हो
चुका है । अब कर्मानुष्ठानके
कारणकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मविद्याका
आरम्भ किया जाता है ।

कामना ही कर्मकी कारण हो
सकती है, क्योंकि वही उसकी
प्रवर्तक है । जो लोग पूर्णकाम हैं
उनकी कामनाओंका अभाव होनेपर
स्वरूपमें स्थिति हो जानेसे कर्ममें
प्रवृत्ति होना असम्भव है । आत्म-
दर्शनकी कामना पूर्ण होनेपर
ही पूर्णकामता [की सिद्धि] होती
है; क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है और
ब्रह्मवेत्ताको ही परमात्माकी प्राप्ति
होती है ऐसा आगे [श्रुति]
बतलायेगी । अतः अविद्याकी निवृत्ति
होनेपर अपने आत्मामें स्थित हो
जाना ही परमात्माकी प्राप्ति है;
जैसा कि “अभय पद प्राप्त करं लेता
है” “[उस समय] इस आनन्द-
मय आत्माको प्राप्त हो जाता है”
इत्यादिश्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

काम्यप्रतिपिद्वयोरनारम्भा-

मीमांसकमत- दारब्धस्य चोप-
समीक्षा भोगेन क्षयान्नित्या-

नुष्ठानेन प्रत्यवायाभावादयत्नत
एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः ।
अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः
स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतु-
त्वात्कर्मस्य एव मोक्ष इति चेत् ।

न; कर्मानेकत्वात् । अने-
कानि ह्यारब्धफलान्यनारब्ध-
फलानि चानेकजन्मान्तरकृतानि
विरुद्धफलानि कर्माणि सम्भवन्ति ।
अतस्तेष्वनारब्धफलानामेकसि-
द्धान्मन्युपभोगक्षयासंभवाच्छेष-
कर्मनिमित्तशरीरारम्भोपपत्तिः ।
कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च “तद्य इह
रमणीयचरणाः” (छा० उ०
५।१०।७) “ततः शेषेण”
(आ० ध० २।२। २।३, गो०

पूर्व०—काम्य और निपिद्ध कर्मों-
का आरम्भ न करनेसे, प्रारब्ध कर्मों-
का भोगद्वारा क्षय हो जानेसे तथा
नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे प्रत्यवायोका
अभाव हो जानेसे अनायास ही
अपने आत्मामें स्थित होनारूप मोक्ष
प्राप्त हो जायगा; अथवा ‘स्वर्ग’
शब्दवाच्य आत्यन्तिक प्रीति कर्म-
जनित होनेके कारण कर्मसे ही
मोक्ष हो सकता है—यदि ऐसा माना
जाय तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि कर्म
तो बहुत-से हैं । अनेकों जन्मान्तरोंमें
किये हुए ऐसे अनेकों विरुद्ध फलवाले
कर्म हो सकते हैं जिनमेंसे कुछ तो
फलोन्मुख हो गये हैं और कुछ अभी
फलोन्मुख नहीं हुए हैं । अतः उनमें
जो कर्म अभी फलोन्मुख नहीं हुए
हैं उनका एक जन्ममें ही क्षय होना
असम्भव होनेके कारण उन अवशिष्ट
कर्मोंके कारण दूसरे शरीरका
आरम्भ होना सम्भव ही है ।
“इस लोकमें जो शुभ कर्म करनेवाले
हैं [उन्हें शुभ योनि प्राप्त होती है]”
“[उपभोग किये कर्मोंसे] बचे हुए
कर्मोंद्वारा [जीवको आगेका शरीर

स्मृ० ११) इत्यादिश्रुतिस्मृति-
शतेभ्यः ।

इष्टानिष्टफलानामनारब्धानां
क्षयार्थानि नित्यानीति चेत् ?

न; अकरणे प्रत्यवायश्रव-
णात् । प्रत्यवायशब्दो ह्यनिष्ट-
विषयः । नित्याकरणनिमित्तस्य
प्रत्यवायस्य दुःखरूपस्यागामिनः
परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युप-
गमान्नानारब्धफलकर्मक्षयार्थानि ।

यदि नामानारब्धकर्मक्षया-
र्थानि नित्यानि कर्माणि तथा-
प्यशुद्धमेव क्षपयेयुर्न शुद्धम् ।
विरोधाभावात् । न हीष्टफलस्य
कर्मणः शुद्धरूपत्वान्नित्यैर्विरोध
उपपद्यते । शुद्धाशुद्धयोर्हि विरो-
धो युक्तः ।

प्राप्त होता है]” इत्यादि सैकड़ों
श्रुति-स्मृतियोंसे अवशिष्ट कर्मके
सद्भावकी सिद्धि होती ही है ।

पूर्व०—इष्ट और अनिष्ट दोनों
प्रकारके फल देनेवाले सञ्चित कर्मों-
का क्षय करनेके लिये ही नित्यकर्म
हैं—ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ता—नहीं, क्योंकि उन्हें
न बरनेपर प्रत्यवाय होता है—ऐसा
सुना गया है । ‘प्रत्यवाय’ शब्द
अनिष्टका ही सूचक है । नित्य-
कर्मोंके न करनेके कारण जो
आगामी दुःखरूप प्रत्यवाय होता है
उसका नाश करनेके लिये ही
नित्यकर्म हैं—ऐसा माना जानेके
कारण वे सञ्चित कर्मोंके क्षयके लिये
नहीं हो सकते ।

और यदि नित्यकर्म, जिनका
फल अभी आरम्भ नहीं हुआ है उन
कर्मोंके क्षयके लिये हों भी तो भी
वे अशुद्ध कर्मका ही क्षय करेंगे;
शुद्धका नहीं; क्योंकि उनसे तो
उनका विरोध ही नहीं है । जिनका
फल इष्ट है उन कर्मोंका तो शुद्ध-
रूप होनेके कारण नित्यकर्मोंसे
विरोध होना सम्भव ही नहीं है ।
विरोध तो शुद्ध और अशुद्ध कर्मोंका
ही होना उचित है ।

न च कर्महेतूनां कामानां
ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवादशेष-
कर्मक्षयोपपत्तिः । अनात्मविदो
हि कामोऽनात्मफलविषयत्वात् ।
स्वात्मनि च कामानुपपत्तिर्नित्य-
प्राप्तत्वात् । स्वयं चात्मा परं
ब्रह्मेत्युक्तम् ।

नित्यानां चाकरणमभावस्ततः
प्रत्यवायानुपपत्तिरिति । अतः
पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणा-
याः प्रत्यवायक्रियाया नित्याकरणं
लक्षणमिति “अकुर्वन्विहितं कर्म”
(मनु० ११ । ४४) इति शतु-
र्नानुपपत्तिः । अन्यथाभावाद्भा-
वोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याक्रोप
इति । अतोऽप्यतः स्वात्मन्य-
वस्थानमित्यनुपपन्नम् ।

इसके सिवा कर्मकी हेतुभूत
कामनाओंकी निवृत्ति भी ज्ञानके
अभावमें असम्भव होनेके कारण
उन (नित्य कर्मों) के द्वारा सम्पूर्ण
कर्मोंका क्षय होना सम्भव नहीं है,
क्योंकि अनात्मफलविषयिणी होनेके
कारण कामना अनात्मवेत्ताको ही
हुआ करती है । आत्मामें तो कामना-
का होना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि
वह नित्यप्राप्त है । और वह तो कहा
ही जा चुका है कि स्वयं आत्मा ही
परब्रह्म है ।

तथा नित्यकर्मोंका न करना तो
अभावरूप है, उससे प्रत्यवाय होना
असम्भव है । अतः नित्यकर्मोंका न
करना यह पूर्वसञ्चित पापोंसे प्राप्त
होनेवाली प्रत्यवायक्रियाका ही
लक्षण है । इसलिये “अकुर्वन्
विहितं कर्म” इस वाक्यके
‘अकुर्वन्’ पदमें ‘शतृ’ प्रत्ययका
होना अनुचित नहीं है । अन्यथा
अभावसे भावकी उत्पत्ति सिद्ध होने-
के कारण सभी प्रमाणोंसे विरोध हो
जायगा । अतः ऐसा मानना सर्वथा
अयुक्त है कि [कर्मानुष्ठानसे]
अनायास ही आत्मस्वरूपमें स्थिति
हो जाती है ।

यच्चोक्तं निरतिशयप्रीतेः स्वर्ग-
शब्दवाच्यायाः कर्मनिमित्तत्वा-
त्कर्मारब्ध एव मोक्ष इति, तन्न;
नित्यत्वान्मोक्षस्य । न हि नित्यं
किञ्चिदारभ्यते । लोके यदारब्धं
तदनित्यमिति । अतो न कर्मा-
रब्धो मोक्षः ।

विद्यासहितानां कर्मणां नि-
त्यारम्भसामर्थ्यमिति चेत् ?

न; विरोधात् । नित्यं चा-
रभ्यत इति विरुद्धम् ।

यद्विनष्टं तदेव नोत्पद्यत इति ।
प्रध्वंसाभाववन्नित्योऽपि मोक्ष
आरभ्य एवेति चेत् ?

न; मोक्षस्य भावरूपत्वात् ।
प्रध्वंसाभावोऽप्यारभ्यत इति
न संभवति ; अभावस्य
विशेषाभावाद्विकल्पमात्रमेतत् ।

और यह जो कहा कि 'स्वर्ग'
शब्दसे कही जानेवाली निरतिशय
प्रीति कर्मनिमित्तक होनेके कारण
मोक्ष कर्मसे ही आरम्भ होनेवाला है,
सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि
मोक्ष नित्य है और किसी भी नित्य
वस्तुका आरम्भ नहीं किया जाता;
लोकमें जिस वस्तुका भी आरम्भ
होता है वह अनित्य हुआ करती
है; इसलिये मोक्ष कर्मारब्ध नहीं है ।

पूर्व०—ज्ञानसहित कर्मोंमें तो
नित्य मोक्षके आरम्भ करनेकी भी
सामर्थ्य है ही ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा
माननेसे विरोध आता है; मोक्ष नित्य
है और उसका आरम्भ किया जाता
है—ऐसा कहना तो परस्परविरुद्ध है ।

पूर्व०—जो वस्तु नष्ट हो जाती
है वही फिर उत्पन्न नहीं हुआ
करती, अतः प्रध्वंसाभावके समान
नित्य होनेपर भी मोक्षका आरम्भ
किया ही जाता है । ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि मोक्ष
तो भावरूप है । प्रध्वंसाभाव भी
आरम्भ किया जाता है यह
संभव नहीं; क्योंकि अभावमें
कोई विशेषता न होनेके कारण यह
तो केवल विकल्प ही है । भावका

भावप्रतियोगी ह्यभावः ।
 यथा ह्यभिन्नोऽपि भावो घट-
 पटादिभिर्विशेष्यते भिन्न इव
 घटभावः पटभाव इति; एवं
 निर्विशेषोऽप्यभावः क्रिया-
 गुणयोगाद्द्रव्यादिवद्विकल्प्यते ।
 न ह्यभाव उत्प्लादिवद्विशेषण-
 सहभावी । विशेषणवच्चे भाव
 एव स्यात् ।

विद्योक्तकर्मकर्तृनित्यत्वाद्विद्या-
 कर्मसन्तानजनितमोक्षनित्यत्व-
 मिति चेत् ?

न; गङ्गास्रोतोवत्कर्तृत्वस्य
 दुःखरूपत्वात् । कर्तृत्वोपरमे च
 मोक्षविच्छेदात् । तस्माद्विद्या-
 कामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वा-
 त्मन्यवस्थानं मोक्ष इति । स्वयं

प्रतियोगी ही 'अभाव' कहलाता
 है । जिस प्रकार भाव वस्तुतः
 अभिन्न होनेपर भी घट-पट आदि
 विशेषणोंसे भिन्नके समान घटभाव,
 पटभाव आदि रूपसे विशेषित किया
 जाता है इसी प्रकार अभाव
 निर्विशेष होनेपर भी क्रिया और
 गुणके योगसे द्रव्यादिके समान
 विकल्पित होता है । कमल आदि
 पदार्थोंके समान अभाव विशेषणके
 सहित रहनेवाला नहीं है । विशेषण-
 युक्त होनेपर तो वह भाव ही हो
 जायगा ।

पूर्व०—विद्या और कर्म इनका
 कर्ता नित्य होनेके कारण विद्या
 और कर्मके अविच्छिन्न प्रवाहसे
 होनेवाला मोक्ष नित्य ही होना
 चाहिये । ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, गङ्गाप्रवाहके
 समान जो कर्तृत्व है वह तो दुःख-
 रूप है । [अतः उससे मोक्षकी प्राप्ति
 नहीं हो सकती, और यदि उसीसे
 मोक्ष माना जाय तो भी] कर्तृत्वकी
 निवृत्ति होनेपर मोक्षका विच्छेद हो
 जायगा । अतः अविद्या, कामना
 और कर्म—इनके उपादान कारणकी
 निवृत्ति होनेपर आत्मस्वरूपमें स्थित
 हो जाना ही मोक्ष है—यह सिद्ध

चात्मा ब्रह्म । तद्विज्ञानादविद्या-
निवृत्तिरिति ब्रह्मविद्यार्थोपनिष-
दारभ्यते ।

उपनिषदिति विद्योच्यते;

उपनिषच्छब्द- तच्छीलानां गर्भज-
निश्क्तिः न्मजरादिनिशात-

नात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोप-
निगमयितृत्वादुपनिषणं वास्यां
परं श्रेय इति । तदर्थत्वाद्-
ग्रन्थोऽप्युपनिषत् ।

होता है । तथा स्वयं आत्मा ही ब्रह्म
है और उसके ज्ञानसे ही अविद्याकी
निवृत्ति होती है; अतः अत्र ब्रह्म-
ज्ञानके लिये उपनिषद्का आरम्भ
क्रिया जाता है ।

अपना सेवन करनेवाले पुरुषोंके
गर्भ, जन्म और जरा आदिका निशातन
(उच्छेद) करने या उनका अवसादन
(नाश) करनेके कारण 'उपनिषद्'
शब्दसे विद्या ही कही जाती है ।
अथवा ब्रह्मके समीप ले जानेवाली
होनेसे या इसमें परम श्रेय ब्रह्म
उपस्थित है इसलिये [यह विद्या 'उप-
निषद्' है] । उस विद्याके ही लिये
होनेके कारण ग्रन्थ भी 'उपनिषद्' है ।

शिक्षावलीका शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्थमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्रमः । नमो
ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव
प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं
वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् ।
अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

[प्राणवृत्ति और दिनका अभिमानी देवता] मित्र (सूर्यदेव)
हमारे लिये सुखकर हो । [अग्नयवृत्ति और रात्रिका अभिमानी] वरुण

हमारे लिये सुखावह हो । [नेत्र और सूर्यका अभिमानी देवता] अर्यमा हमारे लिये सुखप्रद हो । बलका अभिमानी इन्द्र तथा [वाक् और बुद्धिका अभिमानी देवता] बृहस्पति हमारे लिये शान्तिदायक हो । तथा जिसका पादविक्षेप (डग) बहुत विस्तृत है वह [पादाभिमानी देवता] विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो । ब्रह्म [रूप वायु] को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । अतः तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । तुम्हींको ऋत (शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ) कहूँगा और [क्योंकि वाक् और शरीरसे सम्पन्न होनेवाले कार्य भी तुम्हारे ही अधीन हैं इसलिये] तुम्हींको मैं सत्य कहूँगा । अतः तुम [विद्यादानके द्वारा] मेरी रक्षा करो तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले आचार्यकी भी [उन्हें वक्तृत्व-सामर्थ्य देकर] रक्षा करो । मेरी रक्षा करो और वक्ताकी रक्षा करो । आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ॥ १ ॥

शं सुखं प्राणवृत्तेरहश्चाभि-
मानी देवतात्मा मित्रो नोऽस्माकं
भवतु । तथैवापानवृत्ते रात्रेश्चाभि-
मानी देवतात्मा वरुणः । चक्षु-
ष्यादित्ये चाभिमान्यर्यमा ।
बल इन्द्रः । वाचि बुद्धौ च
बृहस्पतिः । विष्णुरुक्रमो वि-
स्तीर्णक्रमः पादयोरभिमानी ।
एवमाद्याध्यात्मदेवताः शं नः ।
भवत्विति सर्वत्रानुपज्ञः ।

प्राणवृत्ति और दिनका अभिमानी देवता मित्र हमारे लिये शं—सुखरूप हो । इसी प्रकार अपानवृत्ति और रात्रिका अभिमानी देवता वरुण, नेत्र और सूर्यमें अभिमान करनेवाला अर्यमा, बलमें अभिमान करनेवाला इन्द्र, वाणी और बुद्धिका अभिमानी बृहस्पति तथा उरुक्रम अर्थात् विस्तीर्णपादविक्षेपवाला पादाभिमानी देवता विष्णु—इत्यादि सभी अध्यात्म-देवता हमारे लिये सुखदायक हों । 'भवतु' (हों) इस क्रियाका सभी वाक्योंके साथ सम्बन्ध है ।

तासु हि सुखकृत्सु विद्या-
श्रवणधारणोपयोगा अप्रतिबन्धे-
न भविष्यन्तीति तत्सुखकर्तृत्वं
प्रार्थ्यते शं नो भवत्विति ।

ब्रह्म विविदिषुणा नमस्कार-
वन्दनक्रिये वायुविषये ब्रह्म-
विद्योपसर्गशान्त्यर्थं क्रियेते । सर्व-
क्रियाफलानां तदधीनत्वाद्
ब्रह्म वायुस्तस्मै ब्रह्मणे नमः ।
प्रह्वीभावं करोमीति वाक्यशेषः ।
नमस्ते तुभ्यं हे वायो नमस्क-
रोमीति । परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां
वायुरेवाभिधीयते ।

किं च त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य
बाह्यं संनिकृष्टमव्यवहितं प्रत्यक्षं
ब्रह्मासि यस्मात्तस्मात्त्वामेव
प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं
यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ
सुपरिनिश्चितमर्थं तदपि त्वद-

उनके सुखप्रद होनेपर ही ज्ञान-
के श्रवण, धारण और उपयोग
निर्विघ्नतासे हो सकेंगे—इसलिये ही
'शं नो भवतु' आदि मन्त्रद्वारा
उनकी सुखावहताके लिये प्रार्थना
की जाती है ।

अब ब्रह्मके जिज्ञासुद्वारा ब्रह्म-
विद्याके विघ्नोंकी शान्तिके लिये
वायुसम्बन्धी नमस्कार और वन्दन
किये जाते हैं । समस्त कर्मोंका
फल वायुके ही अधीन होनेके
कारण ब्रह्म वायु है । उस
ब्रह्मको मैं नमस्कार अर्थात् प्रह्वीभाव
(विनीतभाव) करता हूँ । यहाँ
'करोमि' यह क्रिया वाक्यशेष है ।
हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है—मैं
तुम्हें नमस्कार करता हूँ—इस प्रकार
यहाँ परोक्ष और प्रत्यक्षरूपसे वायु
ही कहा गया है ।

इसके सिवा क्योंकि बाह्य चक्षु
आदिकी अपेक्षा तुम्हीं समीपवर्ती—
अव्यवहित अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म हो
इसलिये तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म
कहूँगा । तुम्हींको ऋत अर्थात् शास्त्र
और अपने कर्तव्यानुसार बुद्धिमें
सम्यक् रूपसे निश्चित किया हुआ
अर्थ कहूँगा, क्योंकि वह [ऋत]

धीनत्वान्त्वामेव वदिष्यामि ।
सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां
संपाद्यमानः, सोऽपि त्वदधीन
एव संपाद्य इति त्वामेव सत्यं
वदिष्यामि ।

तुम्हारे ही अधीन है । वाक् और
शरीरसे सम्पादन किया जानेवाला
वह अर्थ ही सत्य कहलाता है, वह
भी तुम्हारे ही अधीन सम्पादन किया
जाता है; अतः तुम्हींको मैं सत्य
कहूँगा ।

तत्सर्वात्मकं वाग्व्याख्यं ब्रह्म
मथैवं स्तुतं सन्मां विद्यार्थिनम-
वतु विद्यासंयोजनेन । तदेव
ब्रह्म वक्तारमाचार्यं वक्तृत्व-
सामर्थ्यसंयोजनेनावतु । अवतु
मामवतु वक्तारमिति पुनर्वचन-
मादरार्थम् । ॐ शान्तिः शान्तिः
शान्तिरिति त्रिवचनमाध्यात्मि-
काधिभौतिकाधिदैविकानां विद्या-
प्राप्त्युपसर्गाणां प्रशमार्थम् ॥१॥

वह वायुरांतक सर्वात्मक ब्रह्म
मेरेद्वारा इन प्रकार स्तुति किये
जानेपर मुझ विद्यार्थीको विद्यासे
युक्त करके रक्षा करे । वही ब्रह्म
वक्ता आचार्यको वक्तृत्वसामर्थ्यसे
युक्त करके उसको रक्षा करे । मेरी
रक्षा करे और वक्ताकी रक्षा करे—इस
प्रकार दो बार कहना आदरके लिये
है । 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'—
ऐसा तीन बार कहना विद्याप्राप्तिके
आध्यात्मिक, आधिभौतिक और
आधिदैविक विद्वान्की शान्तिके
लिये है ॥ १ ॥



इति शिक्षावल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥



द्वितीय अनुवाक

श्रीक्षाकी व्याख्या

अर्थज्ञानप्रधानत्वादुपनिपदो । ग्रन्थपाठे यत्नोपरमो मा भूदिति श्रीक्षाध्याय आरभ्यते—	उपनिपद् अर्थज्ञानप्रधान है [अर्थात् अर्थज्ञान ही इसमें मुख्य है], अतः इस ग्रन्थके अध्ययनका प्रयत्न शिथिल न हो जाय—इसलिये पहले श्रीक्षाध्याय आरम्भ किया जाता है—
--	--

श्रीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् ।
साम सन्तानः । इत्युक्तः श्रीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

हम श्रीक्षाकी व्याख्या करते हैं । [अकारादि] वर्ण, [उदात्तादि] स्वर, [ह्रस्वादि] मात्रा, [शब्दोच्चारणमें प्राणका प्रयत्नरूप] बल, [एक ही नियमसे उच्चारण करनारूप] साम तथा सन्तान (संहिता) [ये ही विषय इस अध्यायसे सीखे जानेयोग्य हैं] । इस प्रकार श्रीक्षाध्याय कहा गया ॥ १ ॥

श्रीक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णा- द्युच्चारणलक्षणम् । शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः । शिक्षैवश्रीक्षा । दैर्घ्यं छान्दसम् । तां श्रीक्षां व्याख्यास्यामो विस्प- ष्टमा समन्तात्कथयिष्यामः ।	जिससे वर्णादिका उच्चारण सीखा जाय उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायँ वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं । शिक्षाको ही 'श्रीक्षा' कहा गया है । [श्रीक्षाशब्दमें ईकारका] दीर्घत्व वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है । उस श्रीक्षाकी हम व्याख्या करते हैं अर्थात् उसका सर्वतोभावसे स्पष्ट वर्णन करते हैं ।
---	---

चक्षिडो वा ख्यामादिष्टस्य
व्याङ्पूर्वस्य व्यक्तवाकर्मण एत-
द्रूपम् ।

तत्र वर्णोऽकारादिः, स्वर
उदात्तादिः, मात्रा ह्रस्वाद्याः, बलं
प्रयत्नविशेषः, साम वर्णानां मध्य-
मवृत्त्योच्चारणं समता, सन्तानः
सन्ततिः संहितेत्यर्थः । एष हि
शिक्षितव्योऽर्थः । शिक्षा यस्मिन्-
ध्याये सोऽयं शिक्षाध्याय इत्येव-
मुक्त उदितः । उक्त इत्युपसं-
हारार्थः ॥ १ ॥

‘व्याख्यास्यामः’ यह पद ‘वि’
और ‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक ‘चक्षिड्’
धातुके स्थानमें वैकल्पिक ‘ख्याज्’
आदेश करनेसे निष्पन्न होता है ।
इसका अर्थ स्पष्ट उच्चारण है ।

तहाँ अकारादि वर्ण, उदात्तादि
स्वर, ह्रस्वादि मात्राएँ, [वर्णोंके
उच्चारणमें] प्रयत्नविशेषरूप बल,
वर्णोंको मध्यम वृत्तिसे उच्चारण
करनारूप साम अर्थात् समता तथा
सन्तान—सन्तति अर्थात् संहिता—
यही शिक्षणीय विषय है । शिक्षा
जिस अध्यायमें है उस इस शिक्षा-
अध्यायका इस प्रकार कथन यानी
प्रकाशन कर दिया गया । यहाँ
‘उक्तः’ पद उपसंहारके लिये
है ॥ १ ॥

इति शिक्षावल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥



तृतीय अनुवाक

पाँच प्रकारकी संहितोपासना

अधुना संहितोपनिषदुच्यते— | अब संहितासम्बन्धिनी उपनिषत्
(उपासना) कही जाती है—

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः
संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु ।
अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता
महासंहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी
पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः ॥ १ ॥

वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधि-
ज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् ।
आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथा-
धिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् ॥ २ ॥

अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचन-
संधानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्व-
रूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननसंधानम् ।
इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा
हनुरुत्तररूपम् । वाक्संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्य-

ध्यात्मम् । इतीमा महासंहिताः य एवमेता महासंहिता
व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसे-
नान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन ॥ ४ ॥

हम [शिष्य और आचार्य] दोनोंको साथ-साथ यश प्राप्त हो
और हमें साथ-साथ ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो । [क्योंकि जिन पुरुषोंकी
बुद्धि शास्त्राध्ययनद्वारा परिमार्जित हो गयी है वे भी परमार्थतत्त्वको
समझनेमें सहसा समर्थ नहीं होते, इसलिये] अब हम पाँच अधिकरणों-
में संहिताकी * उपनिषद् [अर्थात् संहितासम्बन्धिनी उपासना] की
व्याख्या करेंगे । अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और
अध्यात्म —ये ही पाँच अधिकरण हैं । पण्डितजन उन्हें महासंहिता
कहकर पुकारते हैं । अब अधिलोक (लोकसम्बन्धी) दर्शन (उपासना)
का वर्णन किया जाता है—संहिताका प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण
बुलोक है, मध्यभाग आकाश है ॥ १ ॥ और वायु सन्धान (उनका
परस्पर सम्बन्ध करनेवाला) है । [अधिलोकउपासकको संहितामें इस
प्रकार दृष्टि करनी चाहिये]—यह अधिलोक दर्शन कहा गया । इसके
अनन्तर अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण
अग्नि है, अन्तिम वर्ण बुलोक है, मध्यभाग आप (जल) है और विद्युत्
सन्धान है [अधिज्यौतिषउपासकको संहितामें ऐसी दृष्टि करनी
चाहिये]—यह अधिज्यौतिष दर्शन कहा गया । इसके पश्चात् अधि-
विद्य दर्शन कहा जाता है—इसकी संहिताका प्रथम वर्ण आचार्य
है ॥ २ ॥ अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सन्धि है और प्रवचन (प्रश्नोत्तर-
रूपसे निरूपण करना) सन्धान है [—ऐसी अधिविद्यउपासकको दृष्टि

* 'संहिता' शब्दका अर्थ सन्धि या वर्णोंका सामीप्य है । भिन्न-भिन्न
वर्णोंके मिलनेपर ही शब्द बनते हैं; उनमें जब एक वर्णका दूसरे वर्णसे योग
होता है तो उन पूर्वोत्तर वर्णोंके योगको 'सन्धि' कहते हैं और जिस शब्दोच्चारण-
सम्बन्धी प्रयत्नके योगसे सन्धि होती है उसे 'सन्धान' कहा जाता है ।

करनी चाहिये] । यह विद्यासम्बन्धी दर्शन कहा गया । इससे आगे अधिप्रज दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (सन्तान) सन्धि है और प्रजनन (ऋतु-कालमें भार्यागमन) सन्धान है [—अधिप्रजउपासकको ऐसी दृष्टि करनी चाहिये] । यह प्रजासम्बन्धी उपासनाका वर्णन किया गया ॥ ३ ॥ इसके पश्चात् अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—इसमें संहिताका प्रथम वर्ण नीचेका हनु (नीचेके होठसे ठोडीतकका भाग) है, अन्तिम वर्ण ऊपरका हनु (ऊपरके होठसे नासिकातकका भाग) है, वाणो सन्धि है और जिह्वा सन्धान है [—ऐसी अध्यात्मउपासकको दृष्टि करनी चाहिये] । यह अध्यात्मदर्शन कहा गया । इस प्रकार ये महासंहिताएँ कहलाती हैं । जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासंहिताओंको जानता है [अर्थात् इस प्रकार उपासना करता है] वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न और स्वर्गलोकसे संयुक्त किया जाता है । [अर्थात् उसे इन सबकी प्राप्ति होती है] ॥ ४ ॥

तत्र संहिताद्युपनिषत्परिज्ञा-
ननिमित्तं यद्यशः प्रार्थ्यते तन्ना-
वावयोः शिष्याचार्ययोः सहैवा-
स्तु । तन्निमित्तं च यद्ब्रह्मवर्चसं
तेजस्तच्च सहैवास्त्विति शिष्य-
वचनमाशीः । शिष्यस्य ह्यकृतार्थ-
त्वात्प्रार्थनोपपद्यते नाचार्यस्य ।
कृतार्थत्वात् । कृतार्थो ह्याचार्यो
नाम भवति ।

उस संहितादि उपनिषद्
[अर्थात् संहितादिसम्बन्धिनी
उपासना] के परिज्ञानके कारण
जिस यशकी याचना की जाती है
वह हम शिष्य और आचार्य दोनोंको
साथ-साथ ही प्राप्त हो । तथा
उसके कारण जो ब्रह्मतेज होता है
वह भी हम दोनोंको साथ-साथ ही
मिले—इस प्रकार यह कामना शिष्य-
का वाक्य है, क्योंकि अकृतार्थ
होनेके कारण शिष्यके लिये ही
प्रार्थना करना सम्भव भी है—
आचार्यके लिये नहीं, क्योंकि वह
कृतार्थ होता है; जो पुरुष कृतार्थ
होता है वही आचार्य कहलाता है ।

अथानन्तरमध्ययनलक्षणविधानस्य, अतो यतोऽत्यर्थं ग्रन्थमाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसार्थज्ञानविषयेऽवतारयितुमित्यतः संहिताया उपनिषदं संहिताविषयं दर्शनमित्येतद्ग्रन्थसंनिकृष्टामेव व्याख्यास्यामः; पञ्चस्वधिकरणेष्वश्रयेषु ज्ञानविषयेष्वित्यर्थः ।

कानि तानीत्याह—अधिलोकं लोकेष्वधि यद्दर्शनं तदधिलोकम् । तथाधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्ममिति । ता एताः पञ्चविषया उपनिषदो लोकादिमहावस्तुविषयत्वात्संहिताविषयत्वाच्च महत्यश्च ताः संहिताश्च महासंहिता इत्याचक्षते कथयन्ति वेदविदः ।

अथ तासां यथोपन्यस्तानामधिलोकं दर्शनमुच्यते । दर्शन-

‘अय’ अर्थात् पहले कहे हुए अध्ययनरूप विधानके अनन्तर, ‘अतः’—क्योंकि ग्रन्थके अध्ययनमें अत्यन्त आसक्त की हुई बुद्धिको सहसा अर्थज्ञान [को ग्रहण करने] में प्रवृत्त नहीं किया जा सकता, इसलिये हम ग्रन्थकी समीपवर्तिनी संहितोपनिषद् अर्थात् संहितासम्बन्धिनी दृष्टिकी पाँच अधिकरण—आश्रय अर्थात् ज्ञानके विषयोंमें व्याख्या करेंगे । [तात्पर्य यह कि वर्णोंके विषयमें पाँच प्रकारके ज्ञान बतलावेंगे] ।

ये पाँच अधिकरण कौन-से हैं ? सो बतलाते हैं—‘अधिलोक’—जो दर्शन लोकविषयक हो उसे अधिलोक कहते हैं । इसी प्रकार अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म भी समझने चाहिये । ये पञ्चविषयसम्बन्धिनी उपनिषदें लोकादि महावस्तुविषयिणी और संहितासम्बन्धिनी हैं; इसलिये वेदवेत्तालोग इन्हें महती संहिता अर्थात् ‘महासंहिता’ कहकर पुकारते हैं ।

अब ऊपर बतलायी हुई उन (पाँच प्रकारकी उपासनाओं) मेंसे पहले अधिलोक-दृष्टि बतलायी जाती है ।

क्रमविवक्षार्थोऽथशब्दः सर्वत्र ।
 पृथिवी पूर्वरूपं पूर्वो वर्णः पूर्व-
 रूपम् । संहितायाः पूर्वं वर्णं
 पृथिवीदृष्टिः कर्तव्येत्युक्तं भवति ।
 तथा द्यौः उत्तररूपमाकाशोऽन्त-
 रिक्षलोकः संधिर्मध्यं पूर्वोत्तर-
 रूपयोः संधीयते अस्मिन्पूर्वोत्तर-
 रूपे इति । वायुः संधानम् ।
 संधीयतेऽनेनेति संधानम् । इत्य-
 धिलोकं दर्शनमुक्तम् । अथाधि-
 ज्यौतिषमित्यादि समानम् ।

इतीमा इत्युक्ता उपप्रदर्शयन्ते ।

यः कश्चिदेवमेता महासंहिता
 व्याख्याता वेदोपास्ते । वेदेत्यु-
 पासनं स्याद्विज्ञानाधिकारात्
 “इति प्राचीनयोग्योपास्त्व” इति
 च वचनात् । उपासनं च यथा-

यहाँ दर्शन क्रम बतलाना इष्ट होनेके कारण ‘अथ’ शब्दकी सर्वत्र अनुवृत्ति करनी चाहिये । पृथिवी पूर्वरूप है । यहाँ पूर्ववर्ण ही पूर्वरूप कहा गया है । इससे यह बतलाया गया है कि संहिता (सन्धि) के प्रथम वर्णमें पृथिवीदृष्टि करनी चाहिये । इसी प्रकार द्युलोक उत्तररूप (अन्तिम वर्ण) है, आकाश अर्थात् अन्तरिक्ष सन्धि-पूर्व और उत्तर-रूपका मध्य है अर्थात् इसमें ही पूर्व और उत्तररूप एकत्रित किये जाते हैं । वायु सन्धान है । जिससे सन्धि की जाय उसे सन्धान कहते हैं । इस प्रकार अधिलोक दर्शन कहा गया । इसीके समान ‘अथाधिज्यौतिषम्’ इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ भी समझना चाहिये ।

‘इति’ और ‘इमाः’ इन शब्दोंसे पूर्वोक्त दर्शनोंका परामर्श किया जाता है । जो कोई इस प्रकार व्याख्या की हुई इस महासंहिताको जानता अर्थात् उपासना करता है— यहाँ उपासनाका प्रकरण होनेके कारण ‘वेद’ शब्दसे उपासना समझना चाहिये जैसा कि ‘इति प्राचीन-योग्योपास्त्व’ इस आगे (१ । ६ । २ में) कहे जानेवाले वचनसे सिद्ध होता है ।

शास्त्रं तुल्यप्रत्ययसन्ततिरसंकीर्णा-
 चातत्प्रत्ययैः शास्त्रोक्तालम्बन-
 विषया च । प्रसिद्धोपासन-
 शब्दार्थो लोके गुरुमुपास्ते
 राजानमुपास्त इति । यो हि
 गुर्वादीन्सन्ततमुपचरति स उपास्त
 इत्युच्यते । स च फलमाप्नोत्यु-
 पासनस्य । अतोऽत्रापि च य
 एवं वेद संधीयते प्रजादिभिः
 स्वर्गान्तः । प्रजादिफलान्याप्नो-
 तीत्यर्थः ॥१-४॥

शास्त्रानुसार समान प्रत्ययके प्रवाहका
 नाम 'उपासना' है । वह प्रवाह विजा-
 तीय प्रत्ययोंसे रहित और शास्त्रोक्त
 आलम्बनको आश्रय करनेवाला होना
 चाहिये । लोकमें 'गुरुकी उपासना
 करता है' 'राजाकी उपासना करता है'
 इत्यादि वाक्योंमें 'उपासना' शब्दका
 अर्थ प्रसिद्ध ही है । जो पुरुष गुरु
 आदिकी निरन्तर परिचर्या करता
 है वही 'उपासना करता है' ऐसा
 कहा जाता है । वही उस उपासना-
 का फल भी प्राप्त करता है । अतः
 इस महासंहिताके सम्बन्धमें भी जो
 पुरुष इस प्रकार उपासना करता है
 वह [मन्त्रमें बतलाये हुए] प्रजासे
 लेकर स्वर्गपर्यन्त समस्त पदार्थोंसे
 सम्पन्न होता है, अर्थात् प्रजादिरूप
 फल प्राप्त करता है ॥ १-४ ॥

इति शीक्षावल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥



चतुर्थ अनुवाक

श्री और बुद्धि की कामनावालोंके लिये जप

और होमसम्बन्धी मन्त्र

यश्छन्दसामिति मेधाकाम-
स श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं
जपहोमावुच्येते । “स मेन्द्रो
मेधया स्पृणोतु” “ततो मे श्रिय-
मावह” इति च लिङ्गदर्शनात् ।

अब ‘यश्छन्दसाम्’ इत्यादि
मन्त्रोंसे मेधाकामी तथा श्रीकामी
पुरुषोंके लिये उनकी प्राप्तिके साधन
जप और होम बतलाये जाते हैं;
क्योंकि “वह इन्द्र मुझे मेधासे प्रसन्न
अथवा वल्युक्त करे” तथा “अतः
उस श्रीको तू मेरे पास ला” इन
वाक्योंमें [क्रमशः मेधा और श्री-
प्राप्तिके लिये की गयी प्रार्थनाके]
लिङ्ग देखे जाते हैं ।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्य-
मृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव
धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे
मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि
मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥१॥

कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासाँसि मम गावश्च ।
अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः
सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु
ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ।
दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः
स्वाहा ॥ २ ॥

जो वेदोंमें ऋषभ (श्रेष्ठ अथवा प्रधान) और सर्वरूप है तथा वेदरूप अमृतसे प्रधानरूपसे आविर्भूत हुआ है वह [ओंकाररूप] इन्द्र (सम्पूर्ण कामनाओंका ईश) मुझे मेधासे प्रसन्न अथवा वलयुक्त करे । हे देव ! मैं अमृतत्व (अमृतत्वके हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) का धारण करने-वाला होऊँ । मेरा शरीर विचक्षण (योग्य) हो । मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुमती (मधुर भाषण करनेवाली) हो । मैं कानोंसे खूब श्रवण करूँ । [हे ओंकार !] तू ब्रह्मका कोप है और लौकिक बुद्धिसे ढँका हुआ है [अर्थात् लौकिक बुद्धिके कारण तेरा ज्ञान नहीं होता] । तू मेरी श्रवण की हुई विद्याकी रक्षा कर । मेरे लिये बल, गौ और अन्न-पानको सर्वदा शीघ्र ही ले आनेवाली और इनका विस्तार करनेवाली श्रीको [भेड़-बकरी आदि] ऊनवाले तथा अन्य पशुओंके सहित बुद्धि प्राप्त करानेके अनन्तर तू मेरे पास ला—खाहा । ब्रह्मचारीलोग मेरे पास आवें—खाहा । ब्रह्मचारीलोग मेरे प्रति निष्कपट हों—खाहा । ब्रह्मचारी-लोग प्रमा (यथार्थ ज्ञान) को धारण करें—खाहा । ब्रह्मचारीलोग दम (इन्द्रियदमन) करें—खाहा । ब्रह्मचारीलोग शम (मनोनिग्रह) करें—खाहा । [इन मन्त्रोंके पीछे जो 'खाहा' शब्द है वह इस बातको सूचित करता है कि ये हवनके लिये हैं] ॥ १-२ ॥

यश्छन्दसां वेदानामृषभ

ओङ्कारतो बुद्धि- इवर्षभः प्राधान्यात् ।
बलं प्रार्थयते विश्वरूपः सर्वरूपः

सर्ववाग्व्याप्तेः । “तद्यथा श-
ङ्कुना” (छा० उ० २।२३।३)

इत्यादि श्रुत्यन्तरात् । अत एव-

जो [ओंकार] प्रधान होनेके कारण छन्द—वेदोंमें श्रेष्ठके समान श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण वाणीमें व्याप्त होनेके कारण विश्वरूप यानी सर्वमय है; जैसा कि “जिस प्रकार शङ्कुओं (पत्तोंकी नसों) से [सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है—ओंकार ही यह सब कुछ है]” इस एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । इसीलिये

पभत्वमोङ्कारस्य । ओङ्कारो
 ह्यत्रोपास्य इति ऋषभादि-
 शब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैवोङ्कारस्य ।
 छन्दोभ्यो वेदेभ्यो वेदा ह्यमृतं
 तस्मादमृतादधिसंवभूव । लोक-
 देववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्ठं
 जिघृक्षोः प्रजापतेस्तपस्यत
 ओङ्कारः सारिष्ठत्वेन प्रत्यभा-
 दित्यर्थः । न हि नित्यस्योङ्कार-
 स्याञ्जसैवोत्पत्तिरेव कल्प्यते ।
 स एवंभूत ओङ्कार इन्द्रः सर्व-
 कामेशः परमेश्वरो मा मां मेधया
 प्रज्ञया स्पृणोतु ग्रीणयतु बलयतु
 वा । प्रज्ञाबलं हि प्रार्थ्यते ।

अमृतस्य अमृतत्वहेतुभूतस्य
 ब्रह्मज्ञानस्य तदधिकारात्, हे
 देव धारणो धारयिता भूयासं
 भवेयम् । किं च शरीरं मे मम
 विचर्षणं विचक्षणं योग्यमित्ये-
 तत् । भूयादिति प्रथमपुरुष-
 विपरिणामः । जिह्वा मे मधु-

ओंकारकी श्रेष्ठता है । यहाँ ओंकार
 ही उपासनीय है, इसलिये 'ऋषभ'
 आदि शब्दोंसे ओंकारकी स्तुति की
 जानी उचित ही है । छन्द अर्थात्
 वेदोंसे—वेद ही अमृत हैं, उस
 अमृतसे जो प्रधानरूपसे हुआ है ।
 तात्पर्य यह है कि लोक, देव, वेद
 और व्याहृतियोंसे सर्वोत्कृष्ट सार ग्रहण
 करनेकी इच्छासे तप करते हुए प्रजा-
 पतिको ओंकार ही सर्वोत्तम साररूपसे
 भासित हुआ था, क्योंकि नित्य
 ओंकारकी साक्षात् उत्पत्तिकी कल्पना
 नहीं की जा सकती । वह इस
 प्रकारका ओंकाररूप इन्द्र—सम्पूर्ण
 कामनाओंका स्वामी परमेश्वर मुझे
 मेधाद्वारा प्रसन्न अथवा सबल करे;
 इस प्रकार यहाँ बुद्धिबलके लिये
 प्रार्थना की जाती है ।

हे देव ! मैं अमृत—अमृतत्वके
 हेतुभूत ब्रह्मज्ञानका धारण करने-
 वाला होऊँ, क्योंकि यहाँ ब्रह्मज्ञान-
 का ही प्रसङ्ग है । तथा मेरा शरीर
 विचर्षण—विचक्षण अर्थात् योग्य
 हो । [मूलमें 'भूयासम्' (होऊँ) यह
 उत्तम पुरुषका प्रयोग है इसे]
 'भूयात्' (हो) इस प्रकार प्रथम पुरुष-
 में परिणत कर लेना चाहिये । मेरी

सत्तमा मधुमत्यतिशयेन मधुर-
भाषिणीत्यर्थः । कर्णभ्यां श्रोत्रा-
भ्यां भूरि बहु विश्रवं व्यश्रवं
श्रोता भूयासमित्यर्थः । आत्म-
ज्ञानयोग्यः कार्यकरणसंघातो-
ऽस्त्विति वाक्यार्थः । मेधा च
तदर्थमेव हि प्रार्थ्यते ।

ब्रह्मणः परमात्मनः कोशो-
ऽसि । असेरिवोपलब्ध्यधिष्ठान-
त्वात् । त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं
त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते । मेधया
लौकिकप्रज्ञया पिहित आच्छा-
दितः स त्वं सामान्यप्रज्ञैरविदि-
ततत्त्व इत्यर्थः । श्रुतं श्रवणपूर्व-
कमात्मज्ञानादिकं मे गोपाय
रक्ष । तत्प्राप्त्यविस्मरणादि
कुर्वित्यर्थः जपार्था एते मन्त्रा
मेधाकामस्य ।

होमार्थास्त्वधुना श्रीकामस्य

ओङ्कारतः मन्त्रा उच्यन्ते ।

श्रियः प्रार्थना

आवहन्त्यानयन्ती ।

वितन्वाना विस्तारयन्ती । तनो-

जिह्वा मधुमत्तमा—अतिशय मधुमती
अर्थात् अत्यन्त मधुरभाषिणी हो । मैं
कानोंसे भूरि—अधिक मात्रामें श्रवण
करूँ अर्थात् बड़ा श्रोता होऊँ ।
इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि
मेरा शरीर और इन्द्रियसंघात आत्म-
ज्ञानके योग्य हो । तथा उसीके
लिये ही बुद्धिकी याचना की
जाती है ।

परमात्माकी उपलब्धिका स्थान
होनेके कारण त् तलवारके कोशके
समान ब्रह्म यानी परमात्माका कोश
है, क्योंकि त् ब्रह्मका प्रतीक है—
तुझमें ब्रह्मकी उपलब्धि होती है ।
वही त् मेधा अर्थात् लौकिकी बुद्धि-
से आच्छादित यानी ढका हुआ है;
अर्थात् सामान्य-बुद्धि पुरुषोंको तेरे
तत्त्वका ज्ञान नहीं होता । मेरे
श्रुत अर्थात् श्रवणपूर्वक आत्म-
ज्ञानादि विज्ञानकी रक्षा कर; अर्थात्
उसकी प्राप्ति एवं अविस्मरण आदि
कर । ये मन्त्र मेधाकामी पुरुषके
जपके लिये हैं ।

अब लक्ष्मीकामी पुरुषको होमके
लिये मन्त्र बतलाये जाते हैं—आव-
हन्ती—लानेवाली; वितन्वाना—
विस्तार करनेवाली, क्योंकि 'तनु'

तेस्तत्कर्मत्वात् । कुर्वाणा निर्वर्त-
यन्ती, अचीरमचिरं क्षिप्रमेव,
छान्दसो दीर्घः; चिरं वा कुर्वा-
णा आत्मनो मम, किमित्याह-
वासांसि वस्त्राणि मम गावश्च
गाश्चेति यावत्, अन्नपाने च
सर्वदेवमादीनि कुर्वाणा श्रीर्या
तां ततो मेधानिर्वर्तनात्परमा-
वहानय । अमेधसो हि श्रीरन-
र्थयैवेति ।

किंविशिष्टाम् । लोमशामजाव्या-
दियुक्तामन्यैश्च पशुभिः संयुक्ता-
मावहेत्यधिकारादोङ्कार एवाभि-
संवध्यते । स्वाहा स्वाहाकारो
होमार्थमन्त्रान्तज्ञापनार्थः । आ-
यन्तु मामिति व्यवहितेन सं-
वन्धः । ब्रह्मचारिणो विमायन्तु
प्रमायन्तु दमायन्तु शमायन्त्व-
त्यादि ॥१-२॥

धातुका अर्थ विस्तार करना ही है;
कुर्वाणा—करनेवाली; अचीरम्—
अचिर अर्थात् शीघ्र ही; 'अचीरम्' में
दीर्घ ईकार वैदिक प्रक्रियाके अनुसार
है । अथवा चिरं (चिरकालतक)
आत्मनः—मेरे लिये करनेवाली, क्या
करनेवाली ? सो बतलाते हैं—मेरे वस्त्र,
गौ और अन्न-पान इन्हें जो श्री सदा
ही करनेवाली है उसे, बुद्धि प्राप्त
करानेके अनन्तर त् मेरे पास ला,
क्योंकि बुद्धिहीनके लिये तो लक्ष्मी
अनर्थका ही कारण होती है ।

किन विशेषणोंसे युक्त श्रीको
लावे ? लोमश अर्थात् भेड़-बकरी
आदि ऊनवालोंके सहित और अन्य
पशुओंसे युक्त श्रीको ला । यहाँ 'आवह'
क्रियाका अधिकार होनेके कारण
[उसके कर्ता] ओंकारसे ही सम्बन्ध
है । स्वाहा—यह स्वाहाकार होमार्थ
मन्त्रोंका अन्त सूचित करनेके लिये
है । ['आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः ' इस
वाक्यमें] 'आयन्तु माम्' इस प्रकार
'आ' का व्यवधानयुक्त 'यन्तु' शब्दसे
सम्बन्ध है । [इसी प्रकार मेरे प्रति]
ब्रह्मचारिलोग निष्कपट हों । वे प्रमा-
को धारण करें, इन्द्रिय-निग्रह करें,
मनोनिग्रह करें इत्यादि ॥ १-२ ॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि
स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश
स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा ।
यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां
ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि
प्र मा पाहि प्र मा पद्यस्व ॥ ३ ॥

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ—स्वाहा । मैं अत्यन्त प्रशंसनीय और
धनवान् होऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! मैं उस ब्रह्मकोशभूत तुझमें प्रवेश कर
जाऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! वह तू मुझमें प्रवेश कर—स्वाहा । हे भगवन् !
उस सहस्रशाखायुक्त [अर्थात् अनेकों भेदवाले] तुझमें मैं अपने पापा-
चरणोंका शोधन करता हूँ—स्वाहा । जिस प्रकार जल निम्न प्रदेशकी
ओर जाता है तथा महीने अहर्जर—संवत्सरमें अन्तर्हित हो जाते हैं,
उसी प्रकार हे धातः ! ब्रह्मचारीलोग सब ओरसे मेरे पास आवें—
स्वाहा । तू [शरणागतोंका] आश्रयस्थान है अतः मेरे प्रति भासमान
हो, तू मुझे प्राप्त हो ॥ ३ ॥

यशो यशस्वी जने जनसमूहे-
ऽसानि भवानि । श्रेयान्प्रशस्यतरो
वस्यसो वसीयसो वसुतराद्वसुमत्त-
राद्वासानित्यन्वयः । किं च तं
ब्रह्मणः कोशभूतं त्वा त्वां हे भग
भगवन्पूजावन्प्रविशानि प्रविश्य
चानन्यस्त्वदात्मैव भवानीत्यर्थः ।

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ तथा
श्रेयान्—प्रशस्यतर और वस्यसः—
वसीयसः अर्थात् वसुमान्से भी
वसुमान् यानी अत्यन्त धनी पुरुषों-
से भी विशेष धनवान् होऊँ । तथा
हे भग—भगवन्—पूजनीय ! ब्रह्मके
कोशभूत उस तुझमें मैं प्रवेश करूँ;
तात्पर्य यह है कि तुझमें प्रवेश करके
तुझसे अनन्य हो मैं तेरा ही रूप

स त्वमपि मा मां भग भगवन्
प्रविश । आवयोरेकत्वमेवास्तु ।
तस्मिंस्त्वयि सहस्रशाखे बहु-
शाखाभेदे हे भगवन्, निमृजे
शोधयाम्यहं पापकृत्याम् ।

यथा लोक आपः प्रवता
प्रवणवता निम्नवता देशेन यन्ति
गच्छन्ति । यथा च मासा
अहर्जरं संवत्सरोऽहर्जरः ।
अहोभिः परिवर्तमानो लोकाञ्जर-
यतीत्यहानि वासिञ्जीर्यन्त्यन्त-
र्भवन्तीत्यहर्जरः । तं च यथा
मासा यन्त्येवं मां ब्रह्मचारिणो
हे धातः सर्वस्य विधातः मामा-
यन्त्वागच्छन्तु सर्वतः सर्व-
दिग्भ्यः ।

प्रतिवेशः—श्रमापनयनस्थान-
मासन्नगृहमित्यर्थः । एवं त्वं
प्रतिवेश इव प्रतिवेशस्त्वच्छी-
लिनां सर्वपापदुःखापनयनस्था-
नमसि, अतो मा मां प्रति प्रभाहि
प्रकाशयात्मानं प्रपद्यस्व च ।

हो जाऊँ; तथा तू भी, हे भग-
भगवन् ! मुझमें प्रवेश कर । अर्थात्
हम दोनोंकी एकता ही हो जाय । हे
भगवन् ! उस सहस्रशाख-अनेकों
शाखाभेदवाले तुझमें मैं अपने पाप-
कर्मोंका शोधन करता हूँ ।

लोकमें जिस प्रकार जल प्रवण-
वान्—निम्नतायुक्त देशकी ओर जाते
हैं और महीने जिस प्रकार अहर्जरमें
अन्तर्हित होते हैं । अहर्जर संवत्सर-
को कहते हैं, क्योंकि वह अहः—
दिनोंके रूपमें परिवर्तित होता हुआ
लोकोंको जीर्ण करता है अथवा
उसमें अहः—दिन जीर्ण यानी
अन्तर्भूत होते हैं इसलिये वह
अहर्जर है । उस संवत्सरमें जिस
प्रकार महीने जाते हैं उसी प्रकार
हे धातः । मेरे पास सब ओरसे—
सम्पूर्ण दिशाओंसे ब्रह्मचारीलोग
आवें ।

‘प्रतिवेश’ श्रमनिवृत्तिके स्थान
अर्थात् समीपवर्ती गृहको कहते हैं ।
इस प्रकार तू प्रतिवेशके समान प्रति-
वेश यानी अपना अनुशीलन करने-
वालोंका दुःखनिवृत्तिका स्थान है ।
अतः तू मेरे प्रति अपनेको प्रकाशित
कर और मुझे प्राप्त हो; अर्थात्

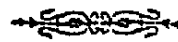
मां रसविद्धमिव लोहं त्वन्मयं
त्वदात्मानं कुर्वित्यर्थः ।

श्रीकामोऽसिन्विद्याप्रकरणे-

विजोपलब्धी ऽभिधीयमानो धना-
धनस्योपयोगः र्थः । धनं च कर्मा-
र्थम् । कर्म चोपात्तदुरितक्षयाय ।
तत्क्षये हि विद्या प्रकाशते । तथा
च स्मृतिः “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां
क्षयात्पापस्य कर्मणः” । यथादर्श-
तले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मान-
मात्मनि” (महा० शा० २०४ ।
८, गरुड० १ । २३७ । ६)
इति ॥ ३ ॥

पारदसंयुक्त लोहेके समान त, मुझे
अपनेसे अभिन्न कर ले ।

इस ज्ञानके प्रकरणमें जो लक्ष्मी-
की कामना कही जाती है वह धनके
लिये हैं, धन कर्मके लिये होता है,
और कर्म प्राप्त हुए पापोंके क्षयके
लिये हैं । उनके क्षीण होनेपर ही
ज्ञानका प्रकाश होता है; जैसा कि
यह स्मृति भी कहती है—“पाप-
कर्मोंका क्षय हो जानेपर ही पुरुष-
को ज्ञान होता है । जिस प्रकार
दर्पणके सच्छ हो जानेपर उसमें
मुख देखा जा सकता है उसी
प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें आत्माका
साक्षात्कार होता है” ॥ ३ ॥



इति शीक्षावल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥



पञ्चम अनुवाक

व्याहतिरूप ब्रह्मकी उपासना

संहिताविषयमुपासनमुक्तं त-	पहले	संहितासम्बन्धिनी
दत्तु मेधाकामस्य श्रीकामस्य	उपासनाका	वर्णन किया गया ।
मन्त्रा अनुक्रान्ताः । ते च पार-	तत्पश्चात् मेधाकी	कामनावाले तथा
म्पर्येण विद्योपयोगार्था एव ।	श्रीकामी पुरुषोंके	लिये मन्त्र बतलाये
अनन्तरं व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणो-	गये । वे भी परम्परासे	ज्ञानके
ऽन्तरूपासनं स्वाराज्यफलं प्र-	उपयोगके लिये ही हैं । उसके	
स्तूयते—	पश्चात् अब जिसका फल स्वाराज्य	है उस व्याहतिरूप ब्रह्मकी आन्तरिक
	उपासनाका आरम्भ किया जाता है—	

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः ।
तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते ।
मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः ।
भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ
लोकः ॥ १ ॥

मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वं लोका
महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्या-
दित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि
ज्योतींषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति
सामानि । सुवरिति यजूंषि ॥ २ ॥

मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ।
भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह
इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा
एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद ।
स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

‘भूः, भुवः और सुवः’ ये तीन व्याहृतियाँ हैं । उनमेंसे ‘महः’
इस चौथी व्याहृतिको माहाचमस्य (महाचमसका पुत्र) जानता है ।
वह महः ही ब्रह्म है । वही आत्मा है । अन्य देवता उसके अङ्ग (अवयव)
हैं । ‘भूः’ यह व्याहृति यह लोक है, ‘भुवः’ अन्तरिक्षलोक है
और ‘सुवः’ यह स्वर्गलोक है ॥ १ ॥ तथा ‘महः’ आदित्य है । आदित्यसे
ही समस्त लोक वृद्धिको प्राप्त होते हैं । ‘भूः’ यही अग्नि है, ‘भुवः’
वायु है, ‘सुवः’ आदित्य है तथा ‘महः’ चन्द्रमा है । चन्द्रमासे ही
सम्पूर्ण ज्योतियाँ वृद्धिको प्राप्त होती हैं । ‘भूः’ यही ऋक् है, ‘भुवः’
साम है, ‘सुवः’ यजुः है ॥ २ ॥ तथा ‘महः’ ब्रह्म है । ब्रह्मसे ही
समस्त वेद वृद्धिको प्राप्त होते हैं । ‘भूः’ यही प्राण है, ‘भुवः’
अपान है, ‘सुवः’ व्यान है तथा ‘महः’ अन्न है । अन्नसे ही समस्त
प्राण वृद्धिको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार ये चार व्याहृतियाँ हैं । इनमेंसे
प्रत्येक चार-चार प्रकारकी है । जो इन्हें जानता है वह ब्रह्मको
जानता है । सम्पूर्ण देवगण उसे बलि (उपहार) समर्पण करते हैं ॥३॥

भूर्भुवः सुवरिति; इतीत्युक्तोप-
व्याहृतिचतुष्टयम् प्रदर्शनार्थः । एता-
स्तिस्र इति च प्रद-
र्शितानां परामर्शार्थः । परामृष्टाः

‘भूर्भुवः सुवरिति’ इसमें ‘इति’
शब्द पूर्वकथित [व्याहृतियों] को
ही प्रदर्शित करनेके लिये है;
‘एतास्तिस्रः’ ये शब्द भी पूर्व-
प्रदर्शित [व्याहृतियों] के ही
परामर्शके लिये हैं । ‘वै’ इस

स्मार्थन्ते वा इत्यनेन । तिस्र एताः
 प्रसिद्धा व्याहृतयः स्मार्थन्ते
 तावत् । तासामियं चतुर्थी
 व्याहृतिर्मह इति । तामेतां चतुर्थीं
 महाचमसस्यापत्यं माहाचमस्यः
 प्रवेदयते । उ ह स इत्येतेषां वृत्ता-
 नुकथनार्थत्वाद्विदितवान्ददर्श-
 नार्थः । माहाचमस्यग्रहणमार्पा-
 नुस्मरणार्थम् । ऋषिस्मरणमप्यु-
 पासनाङ्गमिति गम्यत इहो-
 पदेशात् ।

येयं माहाचमस्येन दृष्टा व्या-

व्याहृतिषु महसः हृतिर्मह इति तद्ब्रह्म ।

प्राधान्यम् महद्भि ब्रह्म महश्च

व्याहृतिः । किं पुनस्तत् ? स आत्मा ।

आप्तेर्व्याप्तिकर्मणः आत्मा ।

अव्ययसे परामृष्ट व्याहृतियोंका
 स्मरण कराया जाता है । अर्थात्
 [इन शब्दोंसे] ये तीन प्रसिद्ध
 व्याहृतियाँ स्मरण दिलायी जाती
 हैं । उनमें 'महः' यह चौथी
 व्याहृति है । उस इस चौथी
 व्याहृतिको महाचमसका पुत्र माहा-
 चमस्य जानता है । किन्तु 'उ ह
 स्म' ये तीन निपात अतीत घटना-
 का अनुकथन करनेके लिये होनेके
 कारण इसका अर्थ 'जानता था'
 'देखा था' इस प्रकार होगा ।
 [व्याहृतिके द्रष्टा] ऋषिका अनु-
 स्मरण करनेके लिये 'माहाचमस्य'
 यह नाम लिया गया है । इस प्रकार
 यहाँ उपदेश होनेके कारण यह
 जाना जाता है कि ऋषिका अनु-
 स्मरण भी उपासनाका एक अङ्ग है ।

जिस 'महः' नामक व्याहृतिको
 माहाचमस्यने देखा था वह ब्रह्म है ।
 ब्रह्म भी महान् है और व्याहृति भी
 महः है । और वह क्या है ? वही
 आत्मा है । 'व्याप्ति' अर्थवाले
 'आप्' धातुसे 'आत्मा' शब्द
 निष्पन्न होता है । क्योंकि लोक,

इतराश्च व्याहतयो लोका देवा
वेदाः प्राणाश्च मह इत्यनेन
व्याहृत्यात्मनादित्यचन्द्रब्रह्मान-
भूतेन व्याप्यन्ते यतः अतो-
ऽङ्गान्यवयवा अन्या देवताः ।
देवताग्रहणमुपलक्षणार्थं लोका-
दीनाम् । मह इत्येतस्य व्या-
हृत्यात्मनो देवलोकादयः सर्वे-
ष्ववयवभूता यतोऽत आहादित्या-
दिभिर्लोकादयो महीयन्ते इति ।
आत्मनो ब्रह्मानि महीयन्ते, महनं
वृद्धिरुपचयः । महीयन्ते वर्धन्ते
इत्यर्थः ।

अयं लोकोऽग्निर्ऋग्वेदः प्राण
प्रतिव्याहति इति प्रथमा व्याहृति-
चत्वारो वेदाः भूरिति । एवमुत्त-
रोत्तरैकैका चतुर्धा भवति ।
मह इति ब्रह्म । ब्रह्मेत्योङ्कारः,
शब्दाधिकारेऽन्यस्यासंभवात् ।
उक्तार्थमन्यत् ।

देव, वेद और प्राणरूप अन्य
व्याहृतियों आदित्य, चन्द्र, ब्रह्म एवं
अन्यरूप व्याहृत्यात्मका महःसे
व्याप्त हैं, इसलिये वे अन्य देवता
इसके अंग-अवयव हैं । यहाँ
लोकादिका उपलक्षण करानेके लिये
'देवता' शब्दका ग्रहण किया
गया है । क्योंकि देव और लोक
आदि सभी 'महः' इस व्याहृत्यात्मके
अवयवस्वरूप हैं, इसीलिये ऐसा
कहा है कि आदित्यादिके योगसे
लोकादि महत्ताको प्राप्त होते हैं ।
आत्मासे ही अङ्ग महत्ताको प्राप्त
हुआ करते हैं । 'महन' शब्दका
अर्थ वृद्धि-उपचय है । अतः
'महीयन्ते' इसका 'वृद्धिको प्राप्त
होते हैं' यह अर्थ है ।

यह लोक, अग्नि, ऋग्वेद और
प्राण—ये पहली व्याहृति भूः हैं; इसी
प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक व्याहृति चार-
चार प्रकारकी है ।* 'महः' ब्रह्म
है; ब्रह्मका अर्थ ओङ्कार है, क्योंकि
शब्दके प्रकरणमें अन्य किसी ब्रह्म-
का होना असम्भव है । शेष सबका
अर्थ पहले कहा जा चुका है ।

* यथा अन्तरिक्षलोक, वायु, सामवेद और अपान—ये दूसरी व्याहृति
भुवः हैं; द्युलोक, आदित्य, यजुर्वेद और व्यान—ये तीसरी व्याहृति सुवः हैं,
तथा आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न—ये चौथी व्याहृति महः हैं ।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्थेति ।
 ता वा एता भूर्भुवः सुवर्मह इति
 चतस्र एकैकशश्चतुर्धा चतुष्प्र-
 काराः । धाशब्दः प्रकारवचनः ।
 चतस्रश्चतस्रः सत्यश्चतुर्धा भव-
 न्तीत्यर्थः । तासां यथाह्नुज्ञानां
 पुनरुपदेशस्तथैवोपासननियमार्थः ।
 ता यथोक्तव्याहृतीर्यो वेद स
 वेद विजानाति । किम् ? ब्रह्म ।

ननु “तद्ब्रह्म स आत्मा” इति
 ज्ञाते ब्रह्मणि न वक्तव्यमविज्ञात-
 वत्स वेद ब्रह्मेति ।

न; तद्विशेषविवक्षुत्वाद-

पञ्चनपष्ठानु- दोषः । सत्यं विज्ञातं
 वाक्योरेकवाक्यता चतुर्थव्याहृत्यात्मा

ब्रह्मेति न तु तद्विशेषो हृदयान्त-
 रूपलभ्यत्वं मनोमयत्वादिश्च ।

वे ये चारों व्याहृतियाँ चार
 प्रकारकी हैं । अर्थात् वे ये भूः,
 भुवः, सुवः और महः चार व्याहृतियाँ
 प्रत्येक चार-चार प्रकारकी हैं ।
 ‘धा’ शब्द ‘प्रकार’ का वाचक है ।
 अर्थात् वे चार-चार होती हुई चार
 प्रकारकी हैं । उनकी जिस प्रकार
 पहले कल्पना की गयी है उसी
 प्रकार उपासना करनेका नियम
 करनेके लिये उनका पुनः उपदेश
 किया गया है । उन उपर्युक्त
 व्याहृतियोंको जो पुरुष जानता है
 वही जानता है । किसे जानता है ?
 ब्रह्मको ।

शंका—“वह ब्रह्म है, वह आत्मा
 हैं” इस वाक्यद्वारा [महःरूपसे]
 ब्रह्मको जान लेनेपर भी उसे न
 जाननेके समान ‘[उसे जो जानता
 है] वह ब्रह्मको जानता है’ ऐसा
 कहना तो ठीक नहीं है ।

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी
 चाहिये; क्योंकि उस [ब्रह्मविषयक
 ज्ञान] के विषयमें विशेष कहना
 अभीष्ट होनेके कारण इस प्रकार
 कहनेमें कोई दोष नहीं है । यह
 ठीक है कि इतना तो जान लिया
 कि चतुर्थ व्याहृतिरूप ब्रह्म है; किन्तु
 हृदयके भीतर उपलब्ध होना तथा मनो-
 मयत्वादिरूप उसकी विशेषताओंका

‘शान्तिसमृद्धम्’ इत्येवमन्तो विशेषणविशेष्यरूपो धर्मपूगो न विज्ञायत इति तद्विवक्षु हि शास्त्रमविज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा स वेद ब्रह्मेत्याह । अतो न दोषः । यो हि वक्ष्यमाणेन धर्मपूगेन विशिष्टं ब्रह्म वेद स वेद ब्रह्मेत्यभिप्रायः । अतो वक्ष्यमाणा-नुवाकेनैकवाक्यतास्य; उभयोर्ह्यनुवाकयोरेकमुपासनम् ।

लिङ्गाच्च, भूरित्यग्नौ प्रति-
तिष्ठतीत्यादिकं लिङ्गमुपासनै-
कत्वे । विधायकाभावाच्च । न हि
‘वेद’ ‘उपासितव्यः’ इति विधा-
यकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । व्याहृत्य-
नुवाके ‘ता यो वेद’ इति च

तो ज्ञान नहीं हुआ । [अगले अनुवाक-
में] ‘शान्तिसमृद्धम्’ इस वाक्यतक
कहा हुआ विशेषण-विशेष्यरूप धर्म-
समूह ज्ञात नहीं है; उसे बतलानेकी
इच्छासे ही शास्त्रने ब्रह्मको न जाने
हुएके समान मानकर ‘वह ब्रह्मको
जानता है’ ऐसा कहा है । इसलिये
इसमें कोई दोष नहीं है । इसका
अभिप्राय यह है कि जो पुरुष आगे
बतलाये जानेवाले धर्मसमूहसे
विशिष्ट ब्रह्मको जानता है वही
ब्रह्मको जानता है । अतः आगे
कहे जानेवाले अनुवाकसे इसकी
एकवाक्यता है क्योंकि इन दोनों
अनुवाकोंकी एक ही उपासना है ।

[ज्ञापक] लिङ्ग होनेसे भी यही
वात सिद्ध होती है । [छठे
अनुवाकमें] ‘भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति’
इत्यादि फलश्रुति इन दोनों अनुवाकोंमें
एक ही उपासना होनेका लिङ्ग है ।
कोई विधान करनेवाला शब्द न
होनेके कारण भी ऐसा ही समझा
जाता है । [छठे अनुवाकमें] ‘वेद’
‘उपासितव्यः’ ऐसा कोई [उपासना-
का] विधान करनेवाला शब्द
नहीं है । व्याहृति-अनुवाकमें
जो ‘उन (व्याहृतियों) को जो
जानता है’ ऐसा वाक्य है वह

वक्ष्यमाणार्थत्वान्नोपासनभेदकः।

वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषविव-

क्षुत्वादित्यादिनोक्तम्। सर्वे देवा

अस्मा एवं विदुषेऽङ्गभूता आव-

हन्त्यानयन्ति बलिं स्वाराज्य-

प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ १-३ ॥

आगे बतलायी जानेवाली उपासनाके लिये होनेके कारण [पूर्वोक्त उपासनासे] उसका भेद करने-वाला नहीं है। उसी उपासनाको आगे बतलाना क्यों इष्ट है यह बात 'उसकी विशेषता बतलानेकी इच्छा होनेके कारण' आदि हेतुओंसे पहले कह ही चुके हैं। ऐसा जाननेवाले उपासकको उसके अङ्ग-भूत समस्त देवगण बलि (उपहार) समर्पण करते हैं अर्थात् स्वाराज्यकी प्राप्ति हो जानेपर उसके लिये उपहार लयते हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥ १-३ ॥

इति शीक्षावल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

षष्ठः अनुवाकः

ब्रह्मके साक्षात् उपलब्धिस्थान हृदयाकाशका वर्णन

भूर्भुवःसुवःस्वरूपा मह इत्ये-
तस्य व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽङ्-
गान्यन्या देवता इत्युक्तम्। यस्य
ता अङ्गभूतास्तस्यैतस्य ब्रह्मणः
साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च
हृदयाकाशः स्थानमुच्यते शाल-
ग्राम इव विष्णोः। तस्मिन्नि
तद्ब्रह्मोपास्यमानं मनोमयत्वादि-

भूः, भुवः और सुवः—ये अन्य देवता 'महः' इस व्याहृतिरूप हिरण्य-गर्भसंज्ञक ब्रह्मके अङ्ग हैं—ऐसा पहले कहा जा चुका है। जिसके वे अङ्गभूत हैं उस इस ब्रह्मकी साक्षात् उपलब्धि और उपासनाके लिये हृदयाकाश स्थान बतलाया जाता है, जैसे कि विष्णुके लिये शालग्राम। उसमें उपासना किये जानेपर ही वह मनोमयत्वादिधर्मविशिष्ट

धर्मविशिष्टं साक्षादुपलभ्यते
पाणाविवामलकम् । मार्गश्च
सर्वात्मभावप्रतिपत्तये वक्तव्य
इत्यनुवाक आरभ्यते—

ब्रह्म हृदयलीपर रखे हुए आँवलेके
समान साक्षात् उपलब्ध होता है ।
इसके सिवा सर्वात्मभावकी प्राप्तिके
लिये मार्ग भी बतलाना है, इसलिये इस
अनुवाकका आरम्भ किया जाता है—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो
मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके । य
एष स्तन इवावलम्ब्यते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो
विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति ।
भुव इति वायौ ॥ १ ॥

सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति
स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः ।
श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं
ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनःआनन्दम् । शान्ति-
समृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्त्व ॥ २ ॥

यह जो हृदयके मध्यमें स्थित आकाश है उसमें ही यह मनोमय अमृत-
स्वरूप हिरण्मय पुरुष रहता है । तालुओंके बीचमें और [उनके मध्य] यह
जो स्तनके समान [मांसखण्ड] लटका हुआ है [उसमें होकर जो सुषुम्न
नाडी] जहाँ केशोंका मूलभाग विभक्त होकर रहता है उस मूर्धप्रदेशमें
मस्तकके कपालोंको विदीर्ण करके निकल गयी है वह इन्द्रयोनि [अर्थात्
परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग] है । [इस प्रकार उपासना करनेवाला पुरु
प्राणप्रयाणके समय मूर्धका भेदन कर] 'भूः' इस व्याहृतिरूप अग्नि
स्थित होता है [अर्थात् 'भूः' इस व्याहृतिका चिन्तन करनेसे अग्नि
रूप होकर इस लोकको व्याप्त करता है] । इसी प्रकार 'भुवः' इ

व्याहृतिका ध्यान करनेसे वायुमें ॥ १ ॥ 'सुवः' इस व्याहृतिका चिन्तन करनेसे आदित्यमें तथा 'महः' की उपासना करनेसे ब्रह्ममें स्थित हो जाता है । इस प्रकार वह स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है तथा मनके पति (ब्रह्म) को पा लेता है । तथा वाणीका पति, चक्षुका पति, श्रोत्रका पति और सारे विज्ञानका पति हो जाता है । यही नहीं, इससे भी बड़ा हो जाता है । वह आकाशशरीर, सत्यस्वरूप, प्राणाराम, मनआनन्द (जिसके लिये मन आनन्दस्वरूप है), शान्तिसम्पन्न और अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है । हे प्राचीनयोग्य शिष्य ! तू इस प्रकार [उस ब्रह्मकी] उपासना कर ॥ २ ॥

'सः' इति व्युत्क्रम्य 'अयं हृदयाकाशतत्त्व- पुरुषः' इत्यनेन सं- जीवयोः स्वरूपं वध्यते । य एपो- ऽन्तर्हृदये हृदयस्यान्तर्हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्रा- णायतनोऽनेकनाडीसुपिर ऊर्ध्व- नालोऽधोमुखो विशस्यमाने पशौ प्रसिद्ध उपलभ्यते । तस्यान्तर्य एव आकाशः प्रसिद्ध एव कर- काकाशवत्, तस्मिन्सोऽयं पुरुषः । पुरि शयनात्पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुषः । मनोमयो

'सः' इस पहले पदका, पाठ- क्रमको छोड़कर आगेके 'अयं पुरुषः' इस पदसे सम्बन्ध है । जो यह अन्तर्हृदयमें—हृदयके भीतर [आकाश है] । हृदय अर्थात् श्वेत कमलके आकारवाला मांस- पिण्ड, जो प्राणका आश्रय, अनेकों नाडियोंके छिद्रवाला तथा ऊपरको नाल और नीचेको मुखवाला है, जो कि पशुका आलम्बन (वध) किये जानेपर स्पष्टतया उपलब्ध होता है । उसके भीतर जो यह कमण्डलुके अन्तर्बर्ती आकाशके समान प्रसिद्ध आकाश है उसीमें यह पुरुष रहता है; जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण अथवा उसने भूः आदि सम्पूर्ण लोकोंको पूरित किया हुआ है इसलिये 'पुरुष' कहलाता है । वह मनोमय

मनो विज्ञानम् मनुतेर्ज्ञान-
कर्मणः, तन्मयस्तत्प्रायस्तदुपल-
भ्यत्वात् । मनुतेऽनेनेति वा मनो-
ऽन्तःकरणं तदभिमानी तन्मय-
स्तद्विज्ञो वाः अमृतोऽमरणधर्मा
हिरण्यो ज्योतिर्मयः ।

—ज्ञानवाची 'मन्' वातुसे सिद्ध होनेके
कारण 'मन' शब्दका अर्थ 'विज्ञान'
है, तन्मय—तत्प्राय अर्थात् विज्ञान-
मय है क्योंकि उस (विज्ञानस्वरूप)
से ही वह उपलब्ध होता है; अथवा
जिनके द्वारा जीवमनन करता है वह
अन्तःकरण ही 'मन' है उसका अभि-
नानी, तन्मय अथवा उससे उपलब्धित
होनेवाला अनृत—अमरणधर्मा और
हिरण्य—ज्योतिर्मय है ।

तस्यैवंलक्षणस्य हृदयाकाशे
साक्षात्कृतस्य विदुष-
साक्षात्कृतस्य-
आत्मभूतस्येन्द्रस्ये-
दृशस्वरूपप्रतिपत्तये
मार्गोऽभिधीयते । हृदयादूर्ध्वं प्रवृ-
त्ता सुषुम्ना नाम नाडी योग-
शास्त्रेषु च प्रसिद्धा । सा चान्त-
रेण मध्ये प्रसिद्धे तालुके तालु-
कयोर्गता । यथैष तालुकयोर्मध्ये
स्तन इवावलम्ब्यते मांसखण्डस्त-
स्य चान्तरेणेत्येतत् । यत्र च
केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं
मूलं केशान्तो विवर्तते विभागेन
वर्तते मूर्धप्रदेश इत्यर्थः, तं देशं
प्राप्य तत्र विनिःसृता व्यपोह्य
विभज्य विदार्य शीर्षकपाले

हृदयाकाशमें नाशान्कार किये
हुए उस ऐसे लक्षणोंवाले तथा विद्वान्-
के आत्मभूत इन्द्र (ईश्वर) के ऐसे
स्वरूपकी प्राप्ति के लिये मार्ग बतलाया
जाता है—हृदयदेशसे ऊपरकी ओर
जानेवाली सुषुम्ना नामकी नाडी योग-
शास्त्रमें प्रसिद्ध है । वह 'अन्तरेण
तालुके' अर्थात् दोनों तालुओंके
बीचमें होकर गयी है । और तालुओंके
बीचमें यह जो स्तनके समान मांस-
खण्ड लटका हुआ है उसके भी
बीचमें होकर गयी है । तथा जहाँ यह
केशान्त—केशोंके मूलभागका नाम
'केशान्त' है वह जिस स्थानपर
विभक्त होता है अर्थात् जो मूर्ध-
प्रदेश है, उस स्थानमें पहुँचकर
जो निकल गयी है, अर्थात् जो
शीर्षकपालों—मस्तकके कपालोंको

शिरःकपाले विनिर्गता या सेन्द्र-
योनिरिन्द्रस्य ब्रह्मणो योनिमार्गः
स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः ।

तथैवं विद्वान्मनोमयात्मदर्शी

मूर्ध्नो विनिष्क्रम्या-
स्य लोकस्याधिष्ठा-
ता भूरिति व्याहृति-

रूपो योऽग्निर्महतो ब्रह्मणोऽङ्गभूत-

स्तस्मिन्नग्नौ प्रतितिष्ठत्यग्न्यात्मनेमं

लोकं व्याप्नोतीत्यर्थः । तथा भुव

इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि वार्या ।

प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते । सुवरिति

तृतीयव्याहृत्यात्मन्यादित्ये । मह

इत्यङ्गिनि चतुर्थव्याहृत्यात्मनि

ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति ।

तेष्वात्मभावेन स्थित्वाप्नोति

ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मभूतः स्वाराज्यं
विदुष येनार्थेन स्वराज्भावं स्वयमेव

राजाधिपतिर्भवति । अङ्गभूतानां

देवानां यथा ब्रह्म । देवाश्च

पार-विभक्त यानी विदीर्ण करती हुई
बाहर निकल गयी हैं वही इन्द्रयोनि-
इन्द्र अर्थात् ब्रह्मकी योनि-मार्ग यानी
ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति का द्वार है ।

इस प्रकार उस सुपुत्रा नाडीद्वारा
जाननेवाला अर्थात् मनोमय आत्मा-
का राक्षात्कार करनेवाला पुरुष
मूर्ध्नद्वारसे निकलकर इस लोकका
अधिष्ठाता जो महान् ब्रह्मका अङ्ग-
भूत 'मूः' ऐना व्याहृतिरूप अग्नि
है उस अग्निमें स्थित हो जाता है;
अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोक-
को व्याप्त कर लेता है । इसी प्रकार
वह 'भुवः' इस द्वितीय व्याहृति-
रूप वायुमें स्थित हो जाता है-इस
प्रकार 'प्रतितिष्ठति' इस क्रियाकी
अनुवृत्ति की जाती है । तथा [ऐसे
ही] 'सुवः' इस तृतीय व्याहृति-
रूप आदित्यमें और 'महः' इस
चतुर्थव्याहृतिरूप अङ्गी ब्रह्ममें स्थित
होता है ।

उनमें आत्मस्वरूपसे स्थित हो वह
ब्रह्मभूत हुआ स्वाराज्य-स्वराज्भावको
प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस प्रकार
ब्रह्म अङ्गभूत देवताओंका अधिपति
है उसी प्रकार स्वयं उनका राजा-
अधिपति हो जाता है । तथा उसके

सर्वेऽस्मै बलिमावहन्त्यङ्गभूता
 यथा ब्रह्मणे । आप्नोति
 मनसस्पतिम् । सर्वेषां हि
 मनसां पतिः सर्वात्मकत्वाद्ब्र-
 ह्मणः । सर्वेहि मनोभिस्तन्मनुते ।
 तदाप्नोत्येवं विद्वान् । किं च वा-
 कपतिः सर्वासां वाचां पतिर्भवति ।
 तथैव चक्षुष्पतिश्चक्षुषां पतिः ।
 श्रोत्रपतिः श्रोत्राणां पतिः ।
 विज्ञानपतिर्विज्ञानानां च पतिः ।
 सर्वात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां करणै-
 स्तद्वान्भवतोत्यर्थः ।

किं च ततोऽप्यधिकतरमेतद्ब्र-
 वति । किं तत् ? उच्यते । आकाश-
 शरीरमाकाशः शरीरमस्याकाश-
 वद्वा सूक्ष्मं शरीरमस्येत्याकाश-
 शरीरम् । किं तत् ? प्रकृतं ब्रह्म ।
 सत्यात्म सत्यं मूर्तामूर्तमवितथं
 स्वरूपं चात्मा स्वभावोऽस्य तदिदं
 सत्यात्म । प्राणारामं प्राणेष्वाम-
 नसि

अङ्गभूत देवगण जिस प्रकार ब्रह्मको
 उसी प्रकार इस अपने अङ्गीके लिये
 उपहार लाते हैं । तथा वह मनस्पति-
 को प्राप्त हो जाता है । ब्रह्म सर्वात्मक
 होनेके कारण सम्पूर्ण मनोका पति
 है, वह सारे ही मनोद्वारा मनन
 करता है । इस प्रकार उपासनाद्वारा
 विद्वान् उसे प्राप्त कर लेता है । यही
 नहीं, वह वाक्पति—सम्पूर्ण वाणियों-
 का पति हो जाता है, तथा चक्षु-
 ष्पति—नेत्रोंका स्वामी, श्रोत्रपति—
 कानोंका स्वामी और विज्ञानपति—
 विज्ञानोंका स्वामी हो जाता है ।
 तात्पर्य यह है कि सर्वात्मक होनेके
 कारण वह समस्त प्राणियोंकी
 इन्द्रियोंसे इन्द्रियवान् होता है ।

यही नहीं, वह तो इससे भी बड़ा
 हो जाता है । सो क्या ? वतलाते
 हैं—आकाशशरीर—आकाश जिसका
 शरीर है अथवा आकाशके समान
 जिसका सूक्ष्म शरीर है वही आकाश-
 शरीर है । वह है कौन ? प्रकृत
 ब्रह्म [अर्थात् वह ब्रह्म जिसका यहाँ
 प्रकरण है] । सत्यात्म—जिसका
 मूर्तामूर्तरूप सत्य अर्थात् अमिथ्या
 है ^{उसे} 'सत्यात्म' कहते हैं । प्राणाराम—

राम आक्रीडा यस्य तत्प्राणा-
 रामम् । प्राणानां वारामो यस्मि-
 स्तत्प्राणारामम् । मनआनन्दम् ;
 आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य
 मनस्तन्मनआनन्दम् । शान्ति-
 समृद्धं शान्तिरूपशमः, शान्तिश्च
 तत्समृद्धं च शान्तिसमृद्धम् ।
 शान्त्या वा समृद्धं तदुपलभ्यत
 इति शान्तिसमृद्धम् । अमृतम-
 मरणधर्मि । एतच्चाधिकरण-
 विशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ
 द्रष्टव्यमिति । एवं मनोमयत्वा-
 दिधर्मैर्विशिष्टं यथोक्तं ब्रह्म हे
 प्राचीनयोग्य, उपास्तेत्याचार्य-
 वचनोक्तिरादरार्था । उक्तस्तू-
 पासनाशब्दार्थः ॥ १-२ ॥

प्राणोंमें जिसका रमण अर्थात् क्रीडा
 है अथवा जिसमें प्राणोंका आरमण
 है उसे प्राणाराम कहते हैं । मन-
 आनन्दम्—जिसका मन आनन्दभूत
 अर्थात् सुखकारी ही है वह मन-
 आनन्द कहलाता है । शान्तिसमृद्धम्
 —शान्ति उपशमकों कहते हैं, जो
 शान्ति भी है और समृद्ध भी वह
 शान्तिसमृद्ध है अथवा शान्तिके
 द्वारा उस समृद्ध ब्रह्मकी उपलब्धि
 होती है, इसलिये उसे शान्तिसमृद्ध
 कहते हैं । अमृत—अमरणधर्मी । ये
 अधिकरणमें आये हुए विशेषण उस
 मनोमय आदिमें ही जानने चाहिये ।
 इस प्रकार मनोमयत्व आदि धर्मोंसे
 विशिष्ट उपर्युक्त ब्रह्मकी, हे प्राचीन-
 योग्य ! त् उपासना कर—यह
 आचार्यकी उक्ति [उपासनाके]
 आदरके लिये है । 'उपासना'
 शब्दका अर्थ तो पहले बतलाया ही
 जा चुका है ॥ १-२ ॥



इति शीक्षावल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥



सप्तम अनुवाक

पाङ्कत्वरूपसे ब्रह्मकी उपासना

यदेतद्ब्रह्माहृत्यात्मकं ब्रह्मो-
पास्यमुक्तं तस्यैवेदानीं पृथिव्या-
दिपाङ्कत्स्वरूपेणोपासनमुच्यते ।
पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्तिच्छन्दः-
संपत्तिः । ततः पाङ्कत्त्वं
सर्वस्य । पाङ्कत्तश्च यज्ञः ।
“पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो
यज्ञः” इति श्रुतेः । तेन यत्सर्वं
लोकाद्यात्मान्तं च पाङ्क्तं परि-
कल्पयति यज्ञमेव तत्परिकल्प-
यति । तेन यज्ञेन परिकल्पितेन
पाङ्क्तात्मकं प्रजापतिमभि-
संपद्यते । तत्कथं पाङ्क्तमिदं
सर्वमित्यत आह—

यह जो व्याहृतिरूप उपास्य
ब्रह्म बतलाया गया है अब पृथिवी
आदि पाङ्कत्वरूपसे उसीकी उपासना-
का वर्णन किया जाता है—[पृथिवी
आदि पाँच-पाँच संख्यावाले पदार्थ हैं
तथा पङ्क्ति छन्द भी पाँच पदोंवाला
है, अतः] ‘पाँच’ संख्याका योग होनेसे
[उन पृथिवी आदिसे] पङ्क्तिछन्द
सम्पन्न होता है । इसीसे उन सबका
पाङ्कत्व है । यज्ञ भी पाङ्क्त है, जैसा
कि “पङ्क्तिछन्द पाँच पदोंवाला है,
यज्ञ पाङ्क्त है” इस श्रुतिसे ज्ञात
होता है । अतः जो लोकसे लेकर
आत्मापर्यन्त सबको पाङ्कत्वरूपसे
कल्पना करता है वह यज्ञकी ही
कल्पना करता है । उस कल्पना
किये हुए यज्ञसे वह पाङ्क्तस्वरूप
प्रजापतिको प्राप्त हो जाता है ।
अच्छा तो यह सब किस प्रकार
पाङ्क्त है ? सो अब बतलाते हैं—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरा-
दित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय

आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो
व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक्
त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय
ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव
पाङ्क्तं स्पृणोतीति ॥ १ ॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ [—यह लोकपाङ्क्त]; अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र [—यह देवता-पाङ्क्त] तथा आप, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा—ये अधिभूतपाङ्क्त हैं । अब अध्यात्मपाङ्क्त वतलाते हैं—प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान [—यह वायुपाङ्क्त]; चक्षुः, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वचा [—यह इन्द्रियपाङ्क्त] तथा चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा [—यह धातुपाङ्क्त—ये सब मिलाकर अध्यात्मपाङ्क्त हैं] । इस प्रकार पाङ्क्तोपासनाका विधानकर ऋषिने कहा—‘यह सब पाङ्क्त ही है; इस [आध्यात्मिक] पाङ्क्तसे ही उपासक [बाह्य] पाङ्क्तको पूर्ण करता है ॥ १ ॥

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवा-
न्तरिक्ष इति लो-
कपाङ्क्तम् । अग्नि-
वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणीति
देवतापाङ्क्तम् । आप ओषधयो
वनस्पतय आकाश आत्मेति
भूतपाङ्क्तम् । आत्मेति विराट्
भूताधिकारात् । इत्यधिभूतमि-

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक,
दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ—ये
लोकपाङ्क्त हैं; अग्नि, वायु, आदित्य,
चन्द्रमा और नक्षत्र—ये देवतापाङ्क्त
हैं; जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश
और आत्मा—ये भूतपाङ्क्त हैं । यहाँ
‘आत्मा’ विराट्को कहा है, क्योंकि
यह भूतोंका अधिकरण है । ‘इत्यधि-
भूतम्’ यह वाक्य अधिलोक और

त्यधिलोकाधिदेवतपाङ्क्तद्वयोप-
लक्षणार्थम् । लोकदेवतापाङ्क्त-
योश्चाभिहितत्वात् ।

अद्यान्तरमध्यात्मं पाङ्क्त-
त्रिविधाध्यातन- त्रयमुच्यते-प्राणा-
पाङ्क्तं दि वायुपाङ्क्तम् ।

चक्षुरादीन्द्रियपाङ्क्तम् । चर्मादि
धातुपाङ्क्तम् । एतावद्दीदं
सर्वमध्यात्मम्, बाह्यं च
पाङ्क्तमेवेत्येतदेवमधिब्रिधाय
परिकल्प्यपिर्वेद एतद्दर्शनसंपन्नो
वा कश्चिदपिरवोचदुक्तवान् ।
किमित्याह-पाङ्क्तं वा इदं सर्वं
पाङ्क्तेनैवाध्यात्मिकेन संख्या-
सामान्यात्पाङ्क्तं बाह्यं स्पृणोति
ब्रलयति पूरयति । एकात्मतयो-
पलभ्यत इत्येतत् । एवं पाङ्क्त-
मिदं सर्वमिति यो वेद स प्रजा-
पत्यात्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अग्निदेवत-इन दो पाङ्क्तोंका भी
उपलक्षण करानेके लिये है, क्योंकि
इनमें लोक और देवतासम्बन्धी दो
पाङ्क्तोंका भी वर्णन किया गया है ।

अब आगे तीन अध्यात्मपाङ्क्तों-
का वर्णन किया जाता है-प्राणादि
वायुपाङ्क्त, चक्षु आदि इन्द्रियपाङ्क्त
और चर्मादि धातुपाङ्क्त-बस ये
इतने ही अध्यात्म और बाह्य पाङ्क्त
हैं । इनका इस प्रकार विधान अर्थात्
कल्पना करके ऋषि-वेद अथवा
इस दृष्टिसे सम्पन्न किसी ऋषिने
कहा । क्या कहा ? तो बतलाते
हैं-निश्चय ही यह सब पाङ्क्त ही
है । आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही,
संख्यामें समानता होनेके कारण
उपासक बाह्यपाङ्क्तको बलवान्-
पूरित करता है अर्थात् उसके साथ
एकरूपसे उपलब्ध करता है । इस
प्रकार 'यह सब पाङ्क्त है' ऐसा
जो पुरुष जानता है वह प्रजापति-
स्वरूप ही हो जाता है-ऐसा इसका
तात्पर्य है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ओङ्कारोपासनाका विधान

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपा-
सनमुक्तम् । अनन्तरं च पाङ्क्त-
स्वरूपेण तस्यैवोपासनमुक्तम् ।
इदानीं सर्वोपासनाङ्गभूतस्योङ्का-
रस्योपासनं विधित्यते । परापर-
ब्रह्मदृष्ट्या उपास्यमान ओङ्कारः
शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्ति-
साधनं भवति । स ह्यालम्बनं
ब्रह्मणः परस्यापरस्य च, प्रति-
मेव विष्णोः । “एतेनैवायतने-
नैकतरमन्वेति” (प्र० उ० ५ ।
२) इति श्रुतेः ।

व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासनाका
निरूपण किया गया; उसके पश्चात्
उसीकी उपासनाका पाङ्क्तरूपसे
वर्णन किया । अब सम्पूर्ण
उपासनाओंके अङ्गभूत ओङ्कारकी
उपासनाका विधान करना चाहते
हैं । पर एवं अपर ब्रह्मदृष्टिसे
उपासना किये जानेपर ओङ्कार—
केवल शब्दमात्र होनेपर भी पर
और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन
होता है । वही पर और अपर ब्रह्मका
आलम्बन है, जिस प्रकार कि
विष्णुका आलम्बन प्रतिमा है ।
“इसी आलम्बनसे उपासक [पर
या अपर] किसी एक ब्रह्मको प्राप्त
हो जाता है” इस श्रुतिसे यही
वात प्रमाणित होती है ।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्ये-
तदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति
समानि गायन्ति । ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति ।
ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा
प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः
प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥

‘ॐ’ यह शब्द ब्रह्म है, क्योंकि ‘ॐ’ यह सर्वरूप है; ‘ॐ’ यह अनुकृति (अनुकरण—सम्मतिसूचक संकेत) है—ऐसा प्रसिद्ध है । [याज्ञिकलोग] “ओ श्रावय” ऐसा कहकर श्रवण कराते हैं । ‘ॐ’ ऐसा कहकर सामगान करते हैं । ‘ॐ शोम्’ ऐसा कहकर शस्त्रों (गीतिरहित ऋचाओं) का पाठ करते हैं । अध्वर्यु प्रतिगर (प्रत्येक कर्म) के प्रति ॐ ऐसा उच्चारण करता है । ‘ॐ’ ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है; ‘ॐ’ ऐसा कहकर वह अग्निहोत्रके लिये आज्ञा देता है । वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ‘ॐ’ ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है—‘मैं ब्रह्म (वेद अथवा परब्रह्म) को प्राप्त करूँ । इससे वह ब्रह्मको ही प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

ओमिति । इतिशब्दः स्वरूप-

ओङ्कारस्य परिच्छेदार्थः, ओ-
सार्वात्म्यम् मित्येतच्छब्दरूपं

ब्रह्मेति मनसा धारयेदुपासीत ।
यत ओमितीदं सर्वं हि शब्दरूप-
मोङ्कारेण व्याप्तम् । “तद्यथा
शङ्कुना” (छा० उ० २ । २३ ।
३) इति श्रुत्यन्तरात् । अभि-
धानतन्त्रं ह्यभिधेयमित्यत इदं
सर्वमोङ्कार इत्युच्यते ।

ओङ्कारस्तुत्यर्थमुत्तरो ग्रन्थः ।

ओङ्कारमहिमा उपासत्वात्तस्य ।
ओमित्येतदनुकृति-
रनुकरणम् । करोमि यास्यामि

‘ओमिति’ इसमें ‘इति’ शब्द ओङ्कारके स्वरूपका परिच्छेद (निर्देश) करनेके लिये है । अर्थात् ‘ॐ’ यह शब्दरूप ब्रह्म है—ऐसा इसका मनसे ध्यान—उपासना करे; क्योंकि ‘ॐ’ यही सब कुछ है, कारण, समस्त शब्दरूप प्रपञ्च ओङ्कारसे व्याप्त है, जैसा कि ‘जिस प्रकार शंकुसे पत्ते व्याप्त रहते हैं’ इत्यादि एक दूसरी श्रुतिसे सिद्ध होता है । सम्पूर्ण वाच्य वाचकके ही अधीन होता है, इसलिये यह सब ओङ्कार ही कहा जाता है ।

आगेका ग्रन्थ ओङ्कारकी स्तुतिके लिये है, क्योंकि वह उपासनीय है । ‘ॐ’ यह अनुकृति यानी अनुकरण है । इसीसे किसीके द्वारा ‘मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ’

चेति कृतमुक्तमोमित्यनुकरोत्य-
न्यः । अत ओङ्कारोऽनुकृतिः ।
ह स् वा इति प्रसिद्धार्थाव-
द्योतकाः । प्रसिद्धमोङ्कारस्यानु-
कृतित्वम् ।

अपि च 'ओ श्रावय' इति
प्रेषपूर्वकमाश्रावयन्ति । तथोमिति
सामानि गायन्ति सामगाः ।
ॐ शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्र-
शंसितारोऽपि । तथोमित्यध्वर्युः
प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति
ब्रह्मा प्रसौत्यनुजानाति प्रेषपूर्व-
कमाश्रावयति । ओमित्यग्नि-
होत्रमनुजानाति । जुहोमीत्युक्त
ओमित्येवानुज्ञां प्रयच्छति ।

इस प्रकार किये हुए कथनको
सुनकर दूसरा पुरुष [उसको
स्वीकृत करते हुए] 'ॐ' ऐसा
अनुकरण करता है । इसलिये
ओंकार अनुकृति है । 'ह' 'स्' और
'वै'—ये निपात प्रसिद्धिके सूचक
हैं, क्योंकि ओंकारका अनुकृतित्व तो
प्रसिद्ध ही है ।

इसके सिवा 'ओ श्रावय' इस
प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिकलोग
प्रतिश्रवण कराते हैं । तथा 'ॐ'
ऐसा कहकर सामगान करनेवाले
सामका गान करते हैं । शस्त्र
शंसन करनेवाले भी 'ॐ शोम्'
ऐसा कहकर शस्त्रोंका पाठ करते
हैं । तथा अध्वर्युलोग प्रतिगरके
प्रति 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते
हैं । 'ॐ' ऐसा कहकर ब्रह्मा
अनुज्ञा देता है अर्थात् प्रेरणापूर्वक
आश्रवण करता है; और 'ॐ'
कहकर वह अग्निहोत्रके लिये आज्ञा
देता है । अर्थात् यजमानके यों
कहनेपर कि 'मैं-हवन करता हूँ'
वह 'ॐ' ऐसा कहकर उसे
अनुज्ञा देता है ।

ओमित्येव ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्
 प्रवचनं करिष्यन्नध्येष्यमाण
 ओमित्येवाह । ओमित्येव प्रति-
 पद्यतेऽध्येतुमित्यर्थः । ब्रह्म वेद-
 मुपाप्नवानीति प्राप्नुयां ग्रही-
 ष्यामीत्युपाप्नोत्येव ब्रह्म ।
 अथवा ब्रह्म परमात्मा तमु-
 पाप्नवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन्प्राप-
 यिष्यन्नोमित्येवाह । स च तेनो-
 ङ्कारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव । ओङ्कार-
 पूर्व प्रवृत्तानां क्रियाणां फलवत्त्वं
 यस्मात्तस्मादोङ्कारं ब्रह्मेत्युपासी-
 तेति वाक्यार्थः ॥ १ ॥

प्रवचन अर्थात् अध्ययन करनेवाला
 ब्राह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता
 है; अर्थात् 'ॐ' ऐसा कहकर ही
 वह अध्ययन करनेके लिये प्रवृत्त होता
 है । 'मैं ब्रह्म यानी वेदको प्राप्त करूँ
 अर्थात् उसे ग्रहण करूँ' ऐसा कहकर
 वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है ।
 अथवा [यों समझो कि] 'मैं ब्रह्म-
 परमात्माको प्राप्त करूँ' इस प्रकार
 आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे वह
 'ॐ' ऐसा ही कहता है और
 उस ॐकारके द्वारा वह ब्रह्मको
 प्राप्त कर ही लेता है । इस प्रकार
 क्योंकि ॐकारपूर्वक प्रवृत्त होनेवाली
 क्रियाएँ फलवती होती हैं इसलिये
 'ॐकार ब्रह्म है' इस तरह उसकी
 उपासना करे—यह इस वाक्यका
 अर्थ है ॥ १ ॥



इति शीक्षावल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥



नवम अनुवाक

ऋतादि शुभकर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका विधान

विज्ञानादेवामोति स्वाराज्य-
मित्युक्त्याच्छ्रौतसार्तानां कर्म-
णामानर्थक्यं प्राप्तमित्यतस्तन्मा
प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति
साधनत्वप्रदर्शनार्थमिहोपन्यासः—

विज्ञानसे ही स्वाराज्य प्राप्त कर
लेता है—ऐसा [छठे अनुवाकमें] कहे
जानेके कारण श्रौत और स्मार्त कर्मों-
की व्यर्थता प्राप्त होती है । वह
प्राप्त न हो, इसलिये पुरुषार्थके प्रति
कर्मोंका साधनत्व प्रदर्शित करनेके
लिये यहाँ उनका उल्लेख किया
जाता है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्याय-
प्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्याय-
प्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अन्नयश्च स्वाध्याय-
प्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च
स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ।
प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा
राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने
एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥

ऋत (शास्त्रादिद्वारा बुद्धिमें निश्चय किया हुआ अर्थ) तथा
स्वाध्याय (शास्त्राध्ययन) और प्रवचन (अध्यापन अथवा वेदपाठरूप
ब्रह्मयज्ञ) [ये अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं] । सत्य (सत्यभाषण)
तथा स्वाध्याय और प्रवचन [अनुष्ठान किये जाने चाहिये] । दम

(इन्द्रियदमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन्हें सदा करता रहे] । शम (मनोनिग्रह) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये सर्वदा कर्तव्य हैं] । अग्नि (अग्न्याधान) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका अनुष्ठान करे] । अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये नित्य कर्तव्य हैं] । अतिथि (अतिथिसत्कार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका नियम-से अनुष्ठान करे] । मानुषकर्म (विवाहादि लौकिकव्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन्हें करता रहे] । प्रजा (प्रजा उत्पन्न करना) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [—ये सदा ही कर्तव्य हैं] । प्रजन (ऋतु-कालमें भार्यागमन) तथा [इसके साथ] स्वाध्याय और प्रवचन [करता रहे] । प्रजाति (पौत्रोत्पत्ति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका नियतरूपसे अनुष्ठान करे] । सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा रथीतरका पुत्र सत्यवचा मानता है । तप ही [नित्य अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा नित्य तपोनिष्ठ पौरुशिष्टिका मत है । स्वाध्याय और प्रवचन ही [कर्तव्य हैं] ऐसा मुद्गलके पुत्र नाकका मत है । अतः वे (स्वाध्याय और प्रवचन) ही तप हैं, वे ही तप हैं ॥ १ ॥

ऋतमिति व्याख्यातम् । स्वा-
ध्यायोऽध्ययनम् । प्रवचनमध्या-
पनं ब्रह्मयज्ञो वा । एतान्यृता-
दीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशेषः ।
सत्यं च सत्यवचनं यथाव्या-
ख्यातार्थं वा । तपः कृच्छ्रादि ।
दमो बाह्यकरणोपशमः । शमो-
न्तःकरणोपशमः । अग्रय आधा-

‘ऋत’—इसकी व्याख्या पहले [ऋतं वदिष्यामि—इस वाक्यमें] की जा चुकी है । ‘स्वाध्याय’ अध्ययनको कहते हैं, तथा ‘प्रवचन’ अध्यापन या ब्रह्मयज्ञका नाम है । ये ऋत आदि अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं—यह वाक्यशेष है । सत्य—सत्य-वचन अथवा जैसा पहले [सत्यं वदिष्यामि—इस वाक्यमें] व्याख्या की गयी है, वह; तप—कृच्छ्रादि; दम—बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह; शम—चित्त-की शान्ति; [ये सब करने योग्य

तव्याः । अग्निहोत्रं च होतव्यम् ।
अतिथयश्च पूज्याः । मानुषमिति
लौकिकः संन्यवहारः, तच्च
यथाप्राप्तमनुष्ठेयम् । प्रजा चोत्पा-
द्या । प्रजनश्च प्रजननमृतौ
भार्यागमनमित्यर्थः । प्रजातिः
पौत्रोत्पत्तिः पुत्रो निवेशयितव्य
इत्येतत् ।

सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापि

स्वाध्यायप्रवचन- स्वाध्यायप्रवचने
सहयोगकारणम् यत्ततोऽनुष्ठेये इत्येव-
मर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचन-
ग्रहणम् । स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थ-
ज्ञानम्, अर्थज्ञानायत्तं च परं
श्रेयः; प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं
धर्मप्रवृद्धयर्थं च । अतः स्वाध्या-
यप्रवचनयोरादरः कार्यः ।

सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्य-

सत्यादिप्राधान्ये मिति सत्यमेव
मुनीनां मतमेदाः वचो यस्य सोऽयं
सत्यवचा नाम वा तस्य । राथी-
तरो रथीतरस्य गोत्रो राथीतरा-
चार्यो मन्यते । तप इति तप एव

हैं] । अग्नियोंका आधान करना
चाहिये । अग्निहोत्र होम करने योग्य
है । अतिथियोंका पूजन करना
चाहिये । मानुष यानी लौकिक
व्यवहार; उसका भी यथाप्राप्त
अनुष्ठान करना चाहिये । प्रजा
उत्पन्न करनी चाहिये । प्रजन-
प्रजनन-ऋतुकालमें भार्यागमन और
प्रजाति-पौत्रोत्पत्ति अर्थात् पुत्रको
स्त्रीपरिग्रह कराना चाहिये ।

इन सब कर्मोंसे युक्त पुरुषको,
भी स्वाध्याय और प्रवचनका यत्न-
पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये—इसी-
लिये इन सबके साथ स्वाध्याय और
प्रवचनको ग्रहण किया गया है ।
स्वाध्यायके अधीन ही अर्थज्ञान है
और अर्थज्ञानके अधीन ही परमश्रेय
है, तथा प्रवचन उसकी अविस्मृति
और धर्मकी वृद्धिके लिये है; इसलिये
स्वाध्याय और प्रवचनमें आदर
(श्रद्धा) रखना चाहिये ।

सत्य अर्थात् सत्य ही अनुष्ठान
किये जाने योग्य है—ऐसा सत्यवचा
—सत्य ही जिसका वचन हो वह
अथवा जिसका नाम ही सत्यवचा है
वह राथीतर अर्थात् रथीतरके वंशमें
उत्पन्न हुआ राथीतर आचार्य मानता
है । तप यानी तप ही कर्त्तव्य है—

कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि
नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा
नाम पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्या-
पत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते ।
स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति
नाको नामतो मुद्रलस्यापत्यं
मौद्रल्य आचार्यो मन्यते । तद्धि
तपस्तद्धि तपः । हि यस्मात्स्वा-
ध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते
एवानुष्ठेये इति । उक्तानामपि
सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पु-
नर्ग्रहणमादरार्थम् ॥ १ ॥

ऐसा तपोनित्य—नित्य तपोनिष्ठ
अथवा तपोनित्य नामवाला पौरुशिष्टि
—पुरुशिष्टका पुत्र पौरुशिष्टि आचार्य
मानता है । स्वाध्याय और प्रवचन
ही अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं—
ऐसा नाक नामवाला मुद्रलका
पुत्र मौद्रल्य आचार्य मानता है ।
वही तप है, वही तप है ।
इसका तात्पर्य यह है—क्योंकि
स्वाध्याय और प्रवचन ही तप हैं,
इसलिये वे ही अनुष्ठान किये जाने
योग्य हैं । पहले कहे हुए भी सत्य,
तप, स्वाध्याय और प्रवचनोंका
पुनर्ग्रहण उनके आदरके लिये है ॥ १ ॥



इति शीक्षावल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥



दशम अनुवाक

त्रिशङ्कु वेदानुवचन

अहं वृक्षस्य रेरिवेति स्वाध्या-
यार्थो मन्त्राम्नायः । स्वाध्यायश्च
विद्योत्पत्तये । प्रकरणात् ।
विद्यार्थं हीदं प्रकरणम् । न
चान्यार्थत्वमवगम्यते । स्वाध्या-
येन च विशुद्धसत्त्वस्य विद्योत्प-
त्तिरवकल्प्यते ।

‘अहं वृक्षस्य रेरिवा’ आदि
मन्त्राम्नाय स्वाध्याय (जप) के
लिये हैं । तथा स्वाध्याय विद्या
(ज्ञान) की उत्पत्तिके लिये बतलाया
गया है; यह प्रकरणसे ज्ञात होता
है, क्योंकि यह प्रकरण विद्याके
लिये ही है; इसके सिवा उसका
कोई और प्रयोजन नहीं जान पड़ता,
क्योंकि स्वाध्यायके द्वारा जिसका
चित्त शुद्ध हो गया है उसीको
विद्याकी उत्पत्ति होना सम्भव है ।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्व-
पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणः सवर्चसम् ।
सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कुवेदानुवचनम् ॥ १ ॥

मैं [अन्तर्यामीरूपसे उच्छेदरूप संसार-] वृक्षका प्रेरक हूँ । मेरी
कीर्ति पर्वतशिखरके समान उच्च है । ऊर्ध्वपवित्र (परमात्मारूप कारण-
वाला) हूँ । अन्नवान् सूर्यमें जिस प्रकार अमृत है उसी प्रकार मैं भी
शुद्ध अमृतमय हूँ । मैं प्रकाशमान [आत्मतत्त्वरूप] धन, सुमेधा
(सुन्दर मेधावाला) और अमरणधर्मा तथा अक्षित (अव्यय) हूँ,
अथवा अमृतसे सिक्त (भीगा हुआ) हूँ—यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन
है ॥ १ ॥

अहं वृक्षस्योच्छेदात्मकस्य
संसारवृक्षस्य रेखा प्रेरयिता-
ऽन्तर्याम्यात्मना । कीर्तिः ख्या-
तिर्गिरेः पृष्ठमिवोच्छ्रिता मम ।
ऊर्ध्वपवित्र ऊर्ध्व कारणं पवित्रं
पावनं ज्ञानप्रकाश्यं पवित्रं परमं
ब्रह्म यस्य सर्वात्मनो मम सो-
ऽहमूर्ध्वपवित्रः । वाजिनीव वाज-
वतीव । वाजमन्नं तद्वति सवित-
रीत्यर्थः । यथा सवितर्यमृतमा-
त्मतत्त्वं विशुद्धं प्रसिद्धं श्रुति-
स्मृतिशतेभ्य एवं स्वमृतं शोभनं
विशुद्धमात्मतत्त्वमस्मि भवामि ।

द्रविणं धनं सर्वर्चसं दीप्ति-
मत्तदेवात्मतत्त्वमस्मीत्यनुवर्तते ।

ब्रह्मज्ञानं वात्मतत्त्वप्रकाश-
कत्वात्सर्वर्चसम् । द्रविणमिव

द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात् ।

अस्मिन्पक्षे प्राप्तं मयेत्यध्याहारः
कर्तव्यः ।

मैं अन्तर्यामीरूपसे वृक्ष अर्थात्
उच्छेदात्मक संसाररूप वृक्षका प्रेरक
हूँ । मेरी कीर्ति—प्रसिद्धि पर्वतके
पृष्ठभागके समान ऊँची है । मैं ऊर्ध्व-
पवित्र हूँ—पवित्र—पावन अर्थात्
ज्ञानसे प्रकाशित होने योग्य पवित्र
परब्रह्म जिस मुझ सर्वात्माका
ऊर्ध्व यानी कारण है वह
मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ । 'वाजिनि
इव'—वाजवान्के समान—वाज अर्थात्
अन्न उससे युक्त सूर्यके समान,
जिस प्रकार सैकड़ों श्रुतिस्मृतियों-
के अनुसार सूर्यमें विशुद्ध
अमृत यानी आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है
उसी प्रकार मैं भी सु अमृत अर्थात्
शोभन—विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ ।

वही मैं आत्मतत्त्व सर्वर्चस-
दीप्तिशाली द्रविण यानी धन हूँ—इस
प्रकार यहाँ 'अस्मि (हूँ)' क्रिया-
की अनुवृत्ति की जाती है । अथवा
आत्मतत्त्वका प्रकाशक होनेसे तेजस्वी
ब्रह्मज्ञान, जो मोक्षसुखका हेतु होने-
के कारण धनके समान धन है,
[मुझे प्राप्त हो गया है]—इस
पक्षमें ['अस्मि' क्रियाकी अनुवृत्ति
न करके] 'मया प्राप्तम्' (वह
मुझे प्राप्त हो गया है) इसका
अध्याहार करना चाहिये ।

सुमेधाः शोभना मेधा सर्व-
ज्ञलक्षणा यस्य मम सोऽहं
सुमेधाः । संसारस्थित्युत्पत्त्युप-
संहारकौशलयोगात्सुमेधस्त्वम् ।
अत एवामृतोऽमरणधर्माक्षितो-
ऽक्षीणोऽव्ययः, अक्षतो वा; अमृतेन
बोधितः सिक्तः । “अमृतोक्षितो-
ऽहम्” इत्यादि ब्राह्मणम् ।

इत्येवं त्रिशङ्कोर्ऋषेर्ब्रह्मभूतस्य
ब्रह्मविदो वेदानुवचनम्; वेदो
वेदनमात्मैकत्वविज्ञानं तस्य
प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम् ।
आत्मनः कृतकृत्यताख्यापनार्थं
वामदेववत्त्रिशङ्कुनापेण दर्शनेन
दृष्टो मन्त्राम्नाय आत्मविद्या-
प्रकाशक इत्यर्थः ।

अस्य च जपो विद्योत्पत्त्य-
र्थोऽवगम्यते । ऋतं चेत्यादि-

सुमेधा—जिस मेरी मेधा शोभन
अर्थात् सर्वज्ञत्वलक्षणवाली है वह
मैं सुमेधा हूँ । संसारकी स्थिति,
उत्पत्ति और संहार—इसका कौशल
होनेके कारण मेरा सुमेधस्त्व है ।
इसीसे मैं अमृत—अमरणधर्मा और
अक्षित—अक्षीण यानी अव्यय अथवा
अक्षय हूँ । अथवा, [तृतीयातत्पुरुष
समास माननेपर] अमृतेन उक्षितः
अमृतसे सिक्त हूँ । “मैं अमृतसे
उक्षित हूँ” ऐसा ब्राह्मणवाक्य भी है ।

इस प्रकार यह ब्रह्मभूत ब्रह्मवेत्ता
त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है ।
वेद वेदन अर्थात् आत्मैकत्वविज्ञान-
को कहते हैं उसकी प्राप्तिके अनु-
पीछेका वचन ‘वेदानुवचन’
कहलाता है । तात्पर्य यह है कि
अपनी कृतकृत्यता प्रकट करनेके
लिये वामदेवके समान * त्रिशङ्कु
ऋषिद्वारा आर्षदृष्टिसे देखा हुआ
यह मन्त्राम्नाय आत्मविद्याका प्रकाश
करनेवाला है ।

इसका जप विद्याकी उत्पत्तिके
लिये माना जाता है । इस ‘ऋतं’

कर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानु-
वचनपाठादेतदवगम्यत एवं
श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु
युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म
विविदिषोराणी दर्शनानि प्रा-
दुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति । १ ।

च' इत्यादि अनुवाकमें धर्मका
उपन्यास (उल्लेख) करनेके
अनन्तर वेदानुवचनका पाठ करनेसे
यह जाना जाता है कि इस प्रकार
श्रौत और स्मार्त नित्यकर्मोंमें लगे
हुए परब्रह्मके निष्काम जिज्ञासुके प्रति
आत्मा आदिसे सम्बन्धित आर्पदर्शनों-
का प्रादुर्भाव हुआ करता है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

एकदश अनुवाक

वेदाध्ययनके अनन्तर शिष्यको आचार्यका उपदेश

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्य-
प्राग्ब्रह्मविज्ञानात् तोपदेशारम्भः प्रा-
कर्मविधिः ब्रह्मविज्ञानान्निय-
मेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्त-
कर्माणीत्येवमर्थः । अनुशासनश्रुतेः
पुरुषसंस्कारार्थत्वात् । संस्कृतस्य
हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्ज-
सैवोत्पद्यते । “तपसा कल्मषं
हन्ति विद्ययामृतमश्नुते” (मनु०
१२ । १०४) इति स्मृतिः ।
वक्ष्यति च—“तपसा ब्रह्म विजि-

ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानसे पूर्व श्रौत
और स्मार्तकर्मोंका नियमसे अनुष्ठान
करना चाहिये—इसीलिये ‘वेदम-
नूच्य’ इत्यादि श्रुतिसे उनकी
कर्तव्यताके उपदेशका आरम्भ किया
जाता है, क्योंकि [‘अनुशास्ति’
ऐसी] जो अनुशासन-श्रुति है वह
पुरुषके संस्कारके लिये है, क्योंकि जो
पुरुष संस्कारयुक्त और विशुद्धचित्त
होता है उसे अनायास ही आत्मज्ञान
प्राप्त हो जाता है । इस सम्बन्धमें
“तपसे पापका नाश करता है और
ज्ञानसे अमरत्व लाभ करता है” ऐसी
स्मृति है । आगे ऐसा कहेंगे भी कि

ज्ञासस्व" (तै० उ० ३।२।५)
इति । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठे-
यानि कर्माणि । अनुशास्तीत्यनु-
शासनशब्दादनुशासनातिक्रमे
हि दोषोत्पत्तिः ।

प्रागुपन्यासाच्च कर्मणाम् ।
केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं
कर्माण्युपन्यस्तानि । उदितायां
च ब्रह्मविद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठां
विन्दते" (तै० उ० २।७।१)
"न विभेति कुतश्चन" (तै० उ०
२।९।१) "किमहं साधु नाक-
रवम्" (तै० उ० २।९।१)
इत्येवमादिना कर्मनैष्किकञ्चन्यं
दर्शयिष्यति; इत्यतोऽवगम्यते
पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण
विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति ।
मन्त्रवर्णाच्च—“अविद्यया मृत्युं
तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते”
(ई० उ० ११) इति । ऋता-

“तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर”
अतः ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये कर्म
करने चाहिये । ‘अनुशास्ति’ इसमें
‘अनुशासन’—ऐसा शब्द होनेके
कारण उस अनुशासनका अति-
क्रमण करनेपर दोषकी उत्पत्ति
होगी ।

कर्मोंका उपन्यास पहले किया
जानेके कारण भी [यह निश्चय
होता है कि ये कर्म विद्याकी उत्पत्ति-
के लिये हैं] । कर्मोंका उपन्यास
केवल ब्रह्मविद्याका निरूपण
आरम्भ करनेसे पूर्व ही किया
गया है । ब्रह्मविद्याका उदय
होनेपर तो “अभय प्रतिष्ठाको प्राप्त
कर लेता है” “किसीसे भी भय
नहीं मानता” “मैंने कौन-सा शुभ-
कर्म नहीं किया” इत्यादि वाक्योंद्वारा
कर्मोंकी निष्किकञ्चनता ही दिखलायेंगे ।
इससे विदित होता है कि कर्म पूर्व-
सञ्चित पापोंके क्षयके द्वारा ज्ञानकी
प्राप्तिके ही लिये हैं । “अविद्या
(कर्म) से मृत्यु (अधर्म) को
पार करके विद्या (उपासना) से
अमरत्व लाभ करता है” इस मन्त्र-
वर्णसे भी यही बात प्रमाणित होती
है । अतः पहले (नवम अनुवाकमें)

दीनां पूर्वत्रोपदेश आनर्थक्य-
परिहारार्थः । इह तु ज्ञानोत्पत्त्य-
र्थत्वात्कर्तव्यतानियमार्थः ।

जो ऋतादिका उपदेश किया है वह उनके आनर्थक्यकी निवृत्तिके लिये है । तथा यहाँ ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु होनेसे उनकी कर्तव्यताका नियम करनेके लिये है ।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद ।
धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धन-
माहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् ।
धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न
प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो
भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।
यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।
यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥

नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः ।
तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् ।
अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया
देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा
वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥ ३ ॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः ।
अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा
तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः

संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः ।
 यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः ।
 एष उपदेशः एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एव-
 मुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उपदेश देता है—
 सत्य बोल । धर्मका आचरण कर । स्वाध्यायसे प्रमाद न कर । आचार्यके
 लिये अभीष्ट धन लाकर [उसकी आज्ञासे स्त्रीपरिग्रह कर और] सन्तान-
 परम्पराका छेदन न कर । सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । धर्मसे
 प्रमाद नहीं करना चाहिये । कुशल (आत्मरक्षामें उपयोगी) कर्मसे
 प्रमाद नहीं करना चाहिये । ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद
 नहीं करना चाहिये । स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना
 चाहिये ॥ १ ॥ देवकार्य और पितृकार्योंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये ।
 तू मातृदेव (माता ही जिसका देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्य-
 देव हो और अतिथिदेव हो । जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हींका सेवन करना
 चाहिये—दूसरोंका नहीं । हमारे (हम गुरुजनोंके) जो शुभ आचरण
 हैं तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥ दूसरे प्रकारके कर्मोंकी
 नहीं । जो कोई [आचार्यादि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण] हमारी अपेक्षा भी
 श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनका आसनादिके द्वारा तुझे आश्र्यासन (श्रमापहरण)
 करना चाहिये । श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये ।
 अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये । लज्जापूर्वक देना चाहिये । भय मानते
 हुए देना चाहिये । संघित्—मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना चाहिये ।
 यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई सन्देह उपस्थित हो ॥ ३ ॥
 तो वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण),
 अरूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उस प्रसङ्गमें वे जैसा
 व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर । इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोष
 आरोपित किये गये हों उनके विषयमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें

नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर स्वतः कर्ममें परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें वही भी वैसा ही कर । यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य है और [ईश्वरकी] आज्ञा है । इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये—ऐसा ही आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

वेदमनूच्याध्याप्याचार्योऽन्ते-

अधीतवेदस्य वासिनं शिष्यमनु-
कर्तव्यनिरूपणम् शास्ति ग्रन्थग्रहणा-

दनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयती-

त्यर्थः । अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य

धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न

समावर्तितव्यमिति । “बुद्ध्वा

कर्माणि चारभेत्” इति स्मृतेश्च ।

कथमनुशास्तीत्याह—

सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं

वक्तव्यं तद्वद । तद्वद्धर्मं चर ।

धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं

सत्यादिविशेषनिर्देशात् । स्वा-

वेदका अव्ययन करानेके

अनन्तर आचार्य अन्तेवासी—शिष्य-

को उपदेश करता है; अर्थात् ग्रन्थ-

ग्रहणके पश्चात् अनुशासन करता

है—उसका अर्थ ग्रहण कराता है ।

इससे ज्ञात होता है कि वेदाध्ययन

कर चुकनेपर भी ब्रह्मचारीको बिना

धर्मजिज्ञासा किये गुरुकुलसे समा-

वर्तन (अपने घरकी ओर प्रत्या-

गमन) नहीं करना चाहिये ।

“कर्मोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके

उनके अनुष्ठानका आरम्भ करे” इस

स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है ।

किस प्रकार उपदेश करता है ? सो

बतलाते हैं—

सत्य बोल अर्थात् जो कहने-

योग्य बात प्रमाणसे जैसी जानी

गयी हो उसे उसी प्रकार कह ।

इसी प्रकार धर्मका आचरण कर ।

‘धर्म’ यह अनुष्ठान करनेयोग्य

कर्मोंका सामान्यरूपसे वाचक है,

क्योंकि सत्यादि विशेष धर्मोंका तो निर्देश कर ही दिया है । स्वाध्याय

ध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं
मा कार्षीः । आचार्यायाचार्यार्थं
प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दत्त्वा
विद्यानिष्क्रयार्थम्, आचार्येण
चानुज्ञातोऽनुरूपान्दारानाहत्य
प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यव-
च्छेत्सीः । प्रजासन्ततेर्विच्छित्तिर्न
कर्तव्या । अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे
पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ
यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ।
प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देश-
सामर्थ्यात् । अन्यथा प्रजनश्चे-
त्येतदेकमेवावक्ष्यत् ।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो
न कर्तव्यः । सत्याच्च प्रमदनम-
नृतप्रसङ्गः, प्रमादशब्दसामर्थ्यात् ।
विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्य-
मित्यर्थः । अन्यथासत्यवदन-
प्रतिषेध एव स्यात् । धर्मान्न

अर्थात् अध्ययनसे प्रमाद न कर ।
आचार्यके लिये प्रिय-उनका अभीष्ट
धन लेकर और विद्यादानसे उद्भूत
होनेके लिये उन्हें देकर आचार्यके
आज्ञा देनेपर अपने अनुरूप स्त्रीसे
विवाह करके प्रजातन्तु-सन्तति-
क्रमका छेदन न कर । अर्थात्
प्रजासन्ततिका विच्छेद नहीं करना
चाहिये । तात्पर्य यह है कि यदि
पुत्र उत्पन्न न हो तो भी पुत्र-काम्या
(पुत्रेष्टि) आदि कर्मोंद्वारा उसकी
उत्पत्तिके लिये यत्न करना ही
चाहिये । [नवमअनुवाकमें] प्रजा,
प्रजन और प्रजाति-तीनोंहीका
निर्देश किया गया है; उसकी
सामर्थ्यसे यही बात सिद्ध होती है;
अन्यथा वहाँ केवल 'प्रजन' इस
एक ही साधनका निर्देश किया
जाता ।

सत्यसे प्रमाद नहीं करना
चाहिये । सत्यसे प्रमादका अभिप्राय
है असत्यका प्रसंग, यह प्रमाद शब्द-
के सामर्थ्यसे बोधित होता है । तात्पर्य
यह है कि कभी भूलकर भी असत्य-
भाषण नहीं करना चाहिये; यदि
ऐसा तात्पर्य न होता तो, वहाँ
केवल असत्यभाषणका निषेध ही
किया जाता । धर्मसे प्रमाद नहीं

प्रमदितव्यम् । धर्मशब्दस्यानुष्ठे-
यविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः स
न कर्तव्यः । अनुष्ठितव्य एव
धर्म इति यावत् । एवं कुशला-
दात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदि-
तव्यम् । भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै
भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न
प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवच-
नाभ्यां न प्रमदितव्यम् । स्वाध्या-
योऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं
ताभ्यां न प्रमदितव्यम् । ते हि
नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः ॥१॥
तथा देवपितृकार्याभ्यां न
प्रमदितव्यम् । दैवपित्र्ये
कर्मणी कर्तव्ये ।

मातृदेवो माता देवो यस्य स
त्वं मातृदेवो भव स्याः । एवं
पितृदेव आचार्यदेवो भव ।
देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः ।
यान्यपि चान्यान्यनवद्यान्यनि-
न्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि
कर्माणि तानि सेवितव्यानि
कर्तव्यानि त्वया । नो न कर्त-

करना चाहिये । 'धर्म' शब्द अनुष्ठेय
कर्मविशेषका वाचक होनेसे उसका
अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है;
सो नहीं करना चाहिये । अर्थात्
धर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये ।
इसी प्रकार कुशल—आत्मरक्षामें
उपयोगी कर्मोंसे प्रमाद न करे । 'भूति'
वैभवको कहते हैं, उस वैभवके लिये
होनेवाले मंगलयुक्त कर्मोंसे प्रमाद
न करे । स्वाध्याय और प्रवचनसे
प्रमाद न करे स्वाध्याय अध्ययन है
और प्रवचन अध्यापन, उन दोनोंसे
प्रमाद न करे अर्थात् उनका नियम-
से आचरण करता रहे ॥ १ ॥ इसी-
प्रकार देवकार्य और पितृकार्योंसे भी
प्रमाद न करे, अर्थात् देवता और
पितृसम्बन्धी कर्म अवश्य करने
चाहिये ।

मातृदेव—माता है देव जिसका
वह तू मातृदेव हो । इसी प्रकार
पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, [अतिथि-
देव हो] [इनका अर्थ समझना
चाहिये] । तात्पर्य यह है कि ये
सब देवताके समान उपासना
करनेयोग्य हैं । इसके सिवा और
भी जो अनवद्य—अनिन्द्य यानी
शिष्टाचाररूप कर्म हैं तेरे लिये वे ही
सेवनीय यानी कर्तव्य हैं । अन्य

व्यानीतराणि सावधानि शिष्ट-
कृतान्यपि । यान्यस्माकमाचा-
र्याणां सुचरितानि शोभनचरि-
तान्याम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव
त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेया-
नि, नियमेन कर्तव्यानीति या-
वत् ॥ २ ॥ नो इतराणि विपरी-
तान्याचार्यकृतान्यपि ।

ये के च विशेषिता आचार्य-
त्वादिधर्मैरसदसत्तः श्रेयांसः
प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न
क्षत्रियादयस्तेषामासनेनासनदा-
नादिना त्वया प्रशसितव्यम् ।
प्रशसनं प्रश्वासः श्रमापनयः ।
तेषां श्रमस्त्वयापनेतव्य इत्यर्थः ।
तेषां चासने गोष्ठीनिमित्ते समु-
दिते तेषु न प्रशसितव्यं प्रश्वा-
सोऽपि न कर्तव्यः केवलं तदुक्त-
सारग्राहिणा भवितव्यम् ।

निन्दायुक्त कर्म—भले ही वे शिष्ट
पुरुषोंके किये हुए हों—तुझे नहीं
करने चाहिये । हम आचार्य लोगोंके
भी जो सुचरित—शुभ चरित अर्थात्
शास्त्रसे अविरुद्ध कर्म हैं उन्हींकी
तुझे उपासना करनी चाहिये; अदृष्ट
फलके लिये उन्हींका अनुष्ठान करना
चाहिये अर्थात् तेरे लिये वे ही
नियमसे कर्तव्य हैं ॥ २ ॥—दूसरे
नहीं, अर्थात् उनसे विपरीत कर्म
आचार्यके किये हुए भी कर्तव्य
नहीं हैं ।

जो कोई भी आचार्यत्व आदि धर्मोंके
कारण विशिष्ट हैं, अर्थात् हमसे श्रेष्ठ—
बड़े हैं तथा वे ब्राह्मण भी हैं—क्षत्रिय
आदि नहीं हैं, उनका आसनादिके
द्वारा अर्थात् उन्हें आसनादि देकर
तुझे प्रश्वास—प्रश्वासका अर्थ है
आश्वासन यानी श्रमापहरण करना
चाहिये । तात्पर्य यह है कि तुझे
उनका श्रम निवृत्त करना चाहिये ।
तथा किसी गोष्ठी (सभा) के लिये
उन्हें उच्चासन प्राप्त होनेपर तुझे
प्रश्वास—दीर्घनिःश्वास भी नहीं
छोड़ना चाहिये; तुझे केवल उनके
कथनका सार ग्रहण करनेवाला
होना चाहिये ।

किं च यत्किंचिदेयं तच्छ्रद्ध-
यैव दातव्यम् । अश्रद्धया अदेयं न
दातव्यम् । श्रिया विभूत्या देयं
दातव्यम् । हिया लज्जया च
देयम् । भिया भीत्या च देयम् ।
संविदा च मैत्र्यादिकार्येण
देयम् ।

अथैवं वर्तमानस्य यदि कदा-
चित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि
वृत्ते वाचारलक्षणे विचिकित्सा
संशयः स्यात् ॥ ३ ॥ ये तत्र तस्मिन्
देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मा-
दौ युक्ता इति व्यवहितेन संबन्धः
कर्तव्यः । संमर्शिनो विचार-
क्षमाः । युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि
वृत्ते वा । आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः ।
अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः ।
धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता
इत्येतत्, स्युर्भवेयुः । ते यथा येन
प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्क-

इसके सिवा, तुझे जो कुछ दान
करना हो वह श्रद्धासे ही देना
चाहिये, अश्रद्धासे नहीं । श्री
अर्थात् विभूतिके अनुसार देना
चाहिये, ही-लज्जापूर्वक देना
चाहिये, भी-भय मानते हुए
देना चाहिये तथा संविद् यानी
मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना
चाहिये ।

फिर इस प्रकार वर्तते हुए तुझे
यदि किसी समय किसी श्रौत या
स्मार्त कर्म अथवा आचरणरूप
वृत्त (व्यवहार) में संशय उपस्थित
हो ॥ ३ ॥ तो वहाँ-उस देश
या कालमें जो ब्राह्मण नियुक्त
हों-इस प्रकार 'तत्र' इस पदका
'युक्ताः' इस व्यवधानयुक्त पदसे
सम्बन्ध करना चाहिये-[और जो]
संमर्शी-विचारक्षम, युक्त-कर्म
अथवा आचरणमें पूर्णतया तत्पर,
आयुक्त-किसी दूसरेसे प्रयुक्त न
होनेवाले [अर्थात् स्वेच्छासे प्रवृत्त],
अलूक्ष-अरूक्ष अर्थात् अक्रूरमति
(सरलचित्त) और धर्मकामी-
अदृष्टफलकी इच्छावाले अर्थात्
कामनावश विवेकशून्य न हों, वे
ब्राह्मण उस कर्म या आचरणमें जिस

मणि वृत्ते वा वर्तेरस्तथा त्वमपि
वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु,
अभ्याख्याता अभ्युक्ता दोषेण
संदिह्यमानेन संयोजिताः केन-
चित्तेषु च यथोक्तं सर्वमुपन-
येद्ये तत्रेत्यादि ।

एष आदेशो विधिः । एष
उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादी-
नाम् । एषा वेदोपनिषद्वेदरहस्यं
वेदार्थ इत्येतत् । एतदेवानुशा-
सनमीश्वरवचनम् । आदेश-
वाक्यस्य विधेरुक्तत्वात्सर्वेषां वा
प्रमाणभूतानामनुशासनमेतत् ।
यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्व-
मुपासितव्यं कर्तव्यम् । एवमु-
चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपा-
स्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम् ॥४॥

प्रकार वर्तान्न करें उसी प्रकार तुझे
भी वर्तान्न करना चाहिये । इसी
प्रकार अभ्याख्यातोंके प्रति—
अभ्याख्यात-अभ्युक्त अर्थात् जिन-
पर कोई संशययुक्त दोष आरोपित
किया गया हो उनके प्रति जैसा
पहले 'ये तत्र' इत्यादिसे कहा गया
है उसी सब व्यवहारका प्रयोग
करना चाहिये ।

यह आदेश अर्थात् विधि है,
यह पुत्रादिको पिता आदिका उपदेश
है, यह वेदोपनिषद्-वेदका रहस्य
यानी वेदार्थ है । यही अनुशासन
यानी ईश्वरका वाक्य है । अथवा
आदेशवाक्य विधि है—ऐसा पहले
कहा जा चुका है इसलिये यह
सभी प्रमाणभूत [उपदेशकों] का
अनुशासन है । क्योंकि ऐसा
है इसलिये पहले जो कुछ
कहा गया है वह सब इसी
प्रकार उपासनीय—करने योग्य है ।
इस प्रकार ही इसकी उपासना
करनी चाहिये—यह उपासनीय ही
है, अनुपास्य नहीं है—इस प्रकार
यह पुनरुक्ति उपासनाके आदरके
लिये है ॥ ४ ॥

मोक्ष-साधनकी मीमांसा

अत्रैतच्चिन्त्यते विद्याकर्मणो-

मोक्षकारण- विवेकार्थं किं कर्म-
मीमांसायां भ्य एव केवलेभ्यः
चत्वारो विकल्पाः परं श्रेय उत वि-
द्यासव्यपेक्षेभ्य आहोस्विद्विद्या-
कर्मभ्यां संहताभ्यां विद्याया वा
कर्मपेक्षाया उत केवलाया एव
विद्याया इति ?

तत्र केवलेभ्य एव कर्मभ्यः

कर्मणां मोक्ष- स्यात् । समस्तवे-
साधनत्वनिरासः दार्थज्ञानवतः कर्मा-
धिकारात् । “वेदः कृत्स्नोऽधि-
गन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना”
इति स्मरणात् । अधिगमश्च
सहोपनिषदर्थेनात्मज्ञानादिना ।
“विद्वान्यजते” “विद्वान्याज-
यति” इति च विदुष एव कर्म-
ण्यधिकारः प्रदर्श्यते सर्वत्र
“ज्ञात्वा चानुष्ठानम्” इति च ।

अत्र विद्या और कर्मका विवेक
[अर्थात् इन दोनोंका फल भिन्न-
भिन्न है—इसका निश्चय] करनेके
लिये यह विचार किया जाता है
कि (१) क्या परम श्रेयकी प्राप्ति
केवल कर्मसे होती है, (२) अथवा
विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे, (३)
किंवा परस्पर मिले हुए विद्या और
कर्म दोनोंसे, (४) अथवा कर्मकी
अपेक्षा रखनेवाली विद्यासे, (५)
या केवल विद्यासे ही ?

उनमें [पहला पक्ष यह है कि]
केवल कर्मोंसे ही परम श्रेयकी प्राप्ति
हो सकती है, क्योंकि “द्विजातिको
रहस्यके सहित सम्पूर्ण वेदका ज्ञान
प्राप्त करना चाहिये” ऐसी स्मृति
होनेसे सम्पूर्ण वेदका ज्ञान रखने-
वालेको ही कर्मका अधिकार है, और
वेदका ज्ञान उपनिषद्के अर्थभूत
आत्मज्ञानादिके सहित ही हो
सकता है । “विद्वान् यज्ञ करता
है” “विद्वान् यज्ञ कराता है”
इत्यादि वाक्योंसे सर्वत्र विद्वान्का ही
कर्ममें अधिकार दिखलाया गया
है; तथा “जानकर कर्मानुष्ठान
करे” ऐसा भी कहा है । कोई-कोई

कृत्स्नश्च वेदः कर्मार्थ इति हि
मन्यन्ते केचित् । कर्मभ्यश्चेत्परं
श्रेयो नावाप्यते वेदोऽनर्थकः
स्यात् ।

न; नित्यत्वान्मोक्षस्य, नित्यो
हि मोक्ष इष्यते । कर्मकार्य-
स्यानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके ।
कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयो नित्यं स्यात्तच्चा-
निष्टम् । “तद्यथेह कर्मचितो
लोकः क्षीयते” (छा० उ० ८ ।
१ । ६) इतिन्यायानुगृहीत-
श्रुतिविरोधात् ।

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भा-
दारब्धस्य च कर्मण उपभोगेन
क्षयान्नित्यानुष्ठानाच्च तत्प्रत्यवा-
यानुत्पत्तेर्ज्ञाननिरपेक्ष एव मोक्ष
इति चेत् ?

तच्च न; शेषकर्मसंभवात्तन्नि-
मित्तशरीरान्तरोत्पत्तिः प्राप्नो-

ऐसा भी मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद
कर्मके ही लिये हैं, और यदि कर्मोंसे
ही परम श्रेयकी प्राप्ति न हुई तो
वेद भी व्यर्थ ही हो जायगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक
नहीं, क्योंकि मोक्षका नित्यत्व है—
मोक्ष नित्य ही माना गया है । और
जो वस्तु कर्मका कार्य है उसकी
अनित्यता लोकमें प्रसिद्ध है । यदि
नित्य श्रेय कर्मोंसे होता है ऐसा
मानें तो इष्ट नहीं है; क्योंकि इसका
“जिस प्रकार यह कर्मोंपार्जित लोक
क्षीण होता है [उसी प्रकार पुण्यार्जित
परलोक भी क्षीण हो जाता है]”
इस न्याययुक्ता श्रुतिसे विरोध है ।

पूर्व०—काम्य और प्रतिषिद्ध
कर्मोंका आरम्भ न करनेसे, प्रारब्ध
कर्मोंका भोगसे ही क्षय हो जानेसे
तथा नित्य कर्मोंके अनुष्ठानके कारण
प्रत्यवायकी उत्पत्ति न होनेसे मोक्ष
ज्ञानकी अपेक्षासे रहित ही है—यदि
ऐसा माने तो ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात भी नहीं
है; शेष (सञ्चित) कर्मोंके रह
जानेसे उनके कारण अन्य शरीरकी
उत्पत्ति सिद्ध होती है—इस प्रकार

तीति प्रत्युक्तम् । कर्मशेषस्य च
नित्यानुष्ठानेनाविरोधात्क्षयानुप-
पत्तिरिति च ।

यदुक्तं समस्तवेदार्थज्ञानवतः
कर्माधिकारादित्यादि, तच्च न;
श्रुतज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य ।
श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मण्यधि-
क्रियते नोपासनामपेक्षते । उपा-
सनं च श्रुतज्ञानादर्थान्तरं वि-
धीयते । मोक्षफलमर्थान्तरप्रसिद्धं
च स्यात् । 'श्रोतव्यः' इत्युक्त्वा
तद्व्यतिरेकेण 'मन्तव्यो निदि-
ध्यासितव्यः' इति यत्नान्तरवि-
धानात् । मनननिदिध्यासनयोश्च
प्रसिद्धं श्रवणज्ञानादर्थान्तरत्वम् ।

एवं तर्हि विद्यासव्यपेक्षेभ्यः

ज्ञानकर्मसमुच्च-
यस्य मोक्षसाध-
नत्वनिरासः

कर्मभ्यः स्यान्मोक्षः ।
विद्यासहितानां च
कर्मणां भवेत्कार्या-

हम इसका पहले ही खण्डन कर
चुके हैं; तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे
सञ्चित कर्मोंका विरोध न होनेके कारण
उनका क्षय होना सम्भव नहीं है ।

और यह जो कहा कि समस्त
वेदके अर्थको जाननेवालेको ही
कर्मका अधिकार होनेके कारण
[केवल कर्मसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति
हो सकती है] सो भी ठीक नहीं,
क्योंकि उपासना श्रुतज्ञान (गुरु-
कुलमें किये हुए वाक्यविचार) से
भिन्न ही है । मनुष्य श्रुतज्ञानमात्रसे
ही कर्मका अधिकारी हो जाता है,
इसके लिये वह उपासनाकी अपेक्षा
नहीं रखता । उपासना तो श्रुतज्ञान-
से भिन्न वस्तु ही बतलायी गयी है ।
वह उपासना मोक्षरूप फलवाली
और अर्थान्तररूपसे प्रसिद्ध है,
क्योंकि 'श्रोतव्यः' ऐसा कहकर
[मनन और निदिध्यासनके लिये]
'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—इस
प्रकार पृथक् यत्नान्तरका विधान
किया है । लोकमें भी श्रवणज्ञानसे
मनन और निदिध्यासनका अर्थान्त-
रत्व प्रसिद्ध ही है ।

पूर्व०—इस प्रकार तब तो विद्या-
की अपेक्षासे युक्त कर्मोंद्वारा ही
मोक्ष हो सकता है । जो कर्म ज्ञान-
के सहित होते हैं उनमें कार्यान्तरके

न्तरारम्भसामर्थ्यम् । यथा स्वतो
मरणज्वरादिकार्यारम्भसमर्थाना-
मपि विषदध्यादीनां मन्त्रशर्क-
रादिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भ-
सामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः
कर्मभिर्मोक्ष आरभ्यत इति चेत् ?

न; आरम्भस्यानित्यत्वादि-
त्युक्तो दोषः ।

वचनादारभ्योऽपि नित्य
एवेति चेत् ?

न; ज्ञापकत्वाद्बचनस्य ।
वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य
ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तृ । न
हि वचनशतेनापि नित्यमारभ्यत
आरब्धं वाविनाशि भवेत् ।
एतेन विद्याकर्मणोः संहत-
योर्मोक्षारम्भकत्वं प्रत्युक्तम् ।

आरम्भका सामर्थ्य हो सकता है,
जिस प्रकार कि स्वयं मरण और
ज्वरादि कार्योंके आरम्भमें समर्थ
होनेपर भी विष एवं दधि आदिमें
मन्त्र और शर्करादिसे युक्त होनेपर
कार्यान्तरके आरम्भका सामर्थ्य हो
जाता है, इसी प्रकार विद्यासहित
कर्मोंसे मोक्षका आरम्भ हो सकता
है—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, जो वस्तु
आरम्भ होनेवाली होती है वह
अनित्य हुआ करती है—इस प्रकार इस
पक्षका दोष बतलाया जा चुका है ।

पूर्व०—किन्तु ['न स पुनरा-
वर्तते' इत्यादि] वचनसे तो आरम्भ
होनेवाला मोक्ष भी नित्य ही होता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वचन
तो केवल ज्ञापक है; यथार्थ अर्थको
बतलानेवालेका ही नाम 'वचन' है ।
वह किसी अविद्यमान पदार्थको
उत्पन्न करनेवाला नहीं होता ।
सैकड़ों वचन होनेपर भी नित्य
वस्तुका आरम्भ नहीं किया जा
सकता और न आरम्भ होनेवाली वस्तु
अविनाशो ही हो सकती है । इससे
समुचित विद्या और कर्मके मोक्षारम्भ-
कत्वका प्रतिषेध कर दिया गया ।

विद्याकर्मणी मोक्षप्रतिबन्ध-
हेतुनिवर्तके इति चेत्—न, कर्मणः
फलान्तरदर्शनात् । उत्पत्तिसं-
स्कारविकारास्तयो हि फलं
कर्मणो दृश्यते । उत्पत्त्यादिफल-
विपरीतश्च मोक्षः ।

गतिश्रुतेराप्य इति चेत् ।
“सूर्यद्वारेण”, “तयोर्ध्वमायन्”
(क० उ० २।३।१५) इत्ये-
वमादिगतिश्रुतिभ्यः प्राप्यो मोक्ष
इति चेत् ।

न; सर्वगतत्वाद्गन्तुमिच्छा-
नन्यत्वादाकाशादिकारणत्वात्स-
र्वगतं ब्रह्म । ब्रह्माव्यतिरिक्ताश्च
सर्वे विज्ञानात्मानः । अतो ना-
प्यो मोक्षः । गन्तुरन्यद्विभिन्नं
देशं प्रति भवति गन्तव्यम् । न
हि येनैवाव्यतिरिक्तं यत्तत्तेनैव

विद्या और कर्म ये दोनों मोक्षके
प्रतिबन्धके हेतुओंको निवृत्त करने-
वाले हैं [मोक्षके स्वरूपको उत्पन्न
करनेवाले नहीं हैं; अतः जिस
प्रकार प्रध्वंसाभाव कृतक होनेपर
भी नित्य है उसी प्रकार उन प्रति-
बन्धोंकी निवृत्ति भी नित्य ही होगी]
—यदि ऐसा कहो तो यह कथन
ठीक नहीं, क्योंकि कर्मोंका तो
अन्य ही फल देखा गया है । उत्पत्ति,
संस्कार, विकार और आप्ति—ये
कर्मके फल देखे गये हैं । किन्तु
मोक्ष उत्पत्ति आदि फलसे विपरीत है ।

पूर्व०—गतिप्रतिपादिका श्रुतियों-
से तो मोक्ष आप्य सिद्ध होता
है—“सूर्यद्वारसे”, “उस सुषुम्ना
नाडीद्वारा ऊर्ध्वलोकोंको जानेवाला”
आदि गतिप्रतिपादिका श्रुतियोंसे
जाना जाता है कि मोक्ष प्राप्य है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि ब्रह्म सर्वगत, गमन करने-
वालोंसे अभिन्न और आकाशादि-
का भी कारण होनेसे सर्वगत
है तथा सम्पूर्ण विज्ञानात्मा ब्रह्मसे
अभिन्न हैं; इसलिये मोक्ष आप्य
नहीं है । गमन करनेवालेसे पृथक्
अन्य देशमें ही गमन करने योग्यहुआ
करता है । जो जिससे अभिन्न होता

गम्यते । तदनन्यत्वप्रसिद्धेश्च
“तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्”
(तै० उ० २ । ६ । १) “क्षेत्रज्ञं
चापि मां विद्धि” (गीता १३ । २)
इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः ।

मर्त्यैश्वर्यादिश्रुतिविरोध इति
चेत् । अथापि स्याद्यद्यप्राप्यो
मोक्षस्तदा गतिश्रुतीनां “स
एकधा” (छा० उ० ७ । २६ । २)
“स यदि पितृलोककामो भवति”
(छा० उ० ८ । २ । १) “स्त्री-
भिर्वा यानैर्वा” (छा० उ० ८ ।
१२ । ३) इत्यादिश्रुतीनां च
कोपः स्यादिति चेत् ।

न; कार्यब्रह्मविषयत्वात्ता-
साम् । कार्ये हि ब्रह्मणि स्रज्या-
दयः स्युर्न कारणे । “एकमेवा-
द्वितीयम्” (छा० उ० ६ । २ ।
१) “यत्र नान्यत्पश्यति”
(छा० उ० ७ । २४ । १)
“तत्केन कं पश्येत्” (वृ० उ०
२ । ४ । १४, ४ । ५ । १५)
इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

है उसीसे वह गन्तव्य नहीं होता ।
और उसकी अनन्यता तो “उसे
रचकर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया”
“सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी त. मुझको
ही जान” इत्यादि सैकड़ों श्रुति-
स्मृतियोंसे सिद्ध होती है ।

पूर्व०—[ऐसा माननेसे तो]
गति और ऐश्वर्यका प्रतिपादन करने-
वाली श्रुतियोंसे विरोध होगा—अच्छा,
यदि मोक्ष अप्राप्य ही हो तो भी
गतिश्रुति तथा “वह एकरूप होता है”
“वह यदि पितृलोककी इच्छावाला
होता है” “वह स्त्री और यानोंके
साथ रमण करता है” इत्यादि
श्रुतियोंका व्याकोप (बाध) हो
जायगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वे तो
कार्यब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं ।
स्त्री आदि तो कार्य ब्रह्ममें ही हो
सकती हैं, कारण ब्रह्ममें नहीं; जैसा
कि “एक ही अद्वितीय ब्रह्म” “जहाँ
कोई और नहीं देखता” “तब
किसके द्वारा किसे देखे” इत्यादि
श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

विरोधाच्च विद्याकर्मणोः समु-
च्चयानुपपत्तिः । प्रविलीनकर्त्रा-
दिकारकविशेषतत्त्वविषया हि
विद्या तद्विपरीतकारकसाध्येन
कर्मणा विरुध्यते । न ह्येकं वस्तु
परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवत्तच्छ्र-
न्यं चेत्युभयथा द्रष्टुं शक्यते ।
अवश्यं ह्यन्यतरन्मिथ्या स्यात् ।
अन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे
युक्तं यत्स्वाभाविकाज्ञानविषयस्य
द्वैतस्य मिथ्यात्वम् । “यत्र हि
द्वैतमिव भवति” (वृ० उ० २।
४।१४) “मृत्योः स मृत्यु-
मामोति” (क० उ० २।१।
१०, वृ० उ० ४।४।१९)
“अथ यत्रान्यत्पश्यति.....
तदल्पम्” (छा० उ० ७।२४।१)
“अन्योऽसावन्योऽहमस्मि” (वृ०
उ० १।४।१०) “उदरमन्तरं
कुरुते अथ तस्य भयं भवति”
(तै० उ० २।७।१) इत्यादि-
श्रुतिशतेभ्यः ।

इसके सिवा विद्या और कर्मका
विरोध होनेके कारण भी उनका
समुच्चय नहीं हो सकता । जिसमें
कर्ता-करण आदि कारकविशेषोंका
पूर्णतया लय होता है उस तत्त्वको
(ब्रह्मको) विषय करनेवाली विद्या
अपनेसे विपरीत साधनसाध्य कर्मसे
विरुद्ध है । एक ही वस्तु परमार्थतः
कर्ता आदि विशेषसे युक्त और उस-
से रहित—दोनों ही प्रकारसे नहीं
देखी जा सकती । उनमेंसे एक
पक्ष अवश्य मिथ्या होना चाहिये ।
इस प्रकार किसी एकके मिथ्यात्वका
प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर जो स्वभाव-
से ही अज्ञानका विषय है उस
द्वैतका ही मिथ्या होना उचित है,
जैसा कि “जहाँ द्वैतके समान होता
है” “वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता
है” “जहाँ अन्य देखता है वह अल्प
है” “यह अन्य है मैं अन्य हूँ” “जो
थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे
भय प्राप्त होता है” इत्यादि सैकड़ों
श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

सत्यत्वं चैकत्वस्य “एकधै-
वानुद्रष्टव्यम्” (वृ० उ० ४।
४। २०) “एकमेवाद्वितीयम्”
(छा० उ० ६। २। १) “ब्रह्मै-
वेदः सर्वम्” (मु० उ० २। २।
११) “आत्मैवेदः सर्वम्”
(छा० उ० ७। २५। २)
इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च संग्रदा-
नादिकारकभेदादर्शने कर्मोप-
पद्यते । अन्यत्वदर्शनापवादश्च
विद्याविषये सहस्रशः श्रूयते ।
अतो विरोधो विद्याकर्मणोः ।
अतश्च समुच्चयानुपपत्तिः । तत्र
यदुक्तं संहताभ्यां विद्याकर्मभ्यां
मोक्ष इति, अनुपपन्नं तत् ।

विहितत्वात्कर्मणां श्रुतिवि-
रोध इति चेत् । यद्युपमृद्य कर्त्रा-
दिकारकविशेषमात्मैकत्वविज्ञानं
विधीयते सर्पादिभ्रान्तिविज्ञानो-
पमर्दकरज्ज्वादिविषयविज्ञानव-
त्प्राप्तः कर्मविधिश्रुतीनां निर्विष-

तथा “एक रूपसे ही देखना
चाहिये” “एक ही अद्वितीय” “यह
सब ब्रह्म ही है” “यह सब आत्मा
ही है” इत्यादि श्रुतियोंसे एकत्वकी
सत्यता सिद्ध होती है । सम्प्रदान
आदि कारकभेदके दिखायी न देने-
पर कर्म होना सम्भव भी नहीं है ।
ज्ञानके प्रसङ्गमें भेददृष्टिके अपवाद
तो सहस्रों सुननेमें आते हैं । अतः
विद्या और कर्मका विरोध है; इस-
लिये भी उनका समुच्चय होना
असम्भव है । ऐसी दशामें पूर्वमें
तुमने जो कहा था कि ‘परस्पर
मिले हुए विद्या और कर्म दोनोंसे
मोक्ष होता है’ वह सिद्ध नहीं होता ।

पूर्व०—कर्म भी श्रुतिविहित हैं,
अतः ऐसा माननेपर श्रुतिसे विरोध
उपस्थित होता है । यदि सर्पादि-
भ्रान्तिजनित ज्ञानका बाध करनेवाले
रज्जु आदि विषयक ज्ञानके समान
कर्ता आदि कारकविशेषका बाध
करके ही आत्मैकत्वके ज्ञानका
विधान किया जाता है तो कोई
विषय न रहनेके कारण कर्मका
विधान करनेवाली श्रुतियोंका उन

यत्वाद्विरोधः । विहितानि च
कर्माणि । स च विरोधो न
युक्तः । प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति
चेत् ?

(विद्याका विधान करनेवाली
श्रुतियों) से विरोध उपस्थित होता
है; और कर्मोंका विधान भी
किया ही गया है तथा सभी श्रुतियाँ
प्रमाणभूत हैं इसलिये पूर्वोक्त
विरोधका होना उचित नहीं है—यदि
ऐसा कहें तो ?

न; पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुती-
नाम् । विद्योपदेशपरा तावच्छ्रुतिः
संसारात्पुरुषो मोक्षयितव्य इति
संसारहेतोरविद्याया विद्यया
निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाश-
कत्वेन प्रवृत्तेति न विरोधः ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं,
क्योंकि श्रुतियाँ परम पुरुषार्थका
उपदेश करनेमें प्रवृत्त हैं । श्रुति
ज्ञानका उपदेश करनेमें तत्पर हैं ।
उसे संसारसे पुरुषका मोक्ष कराना
है, इसके लिये संसारकी हेतुभूत
अविद्याकी विद्याके द्वारा निवृत्ति
करना आवश्यक है; अतः वह
विद्याका प्रकाश करनेवाली होकर
प्रवृत्त हुई है । इसलिये ऐसा
माननेसे कोई विरोध नहीं आता ।

एवमपि कर्त्रादिकारकसद्भाव-
प्रतिपादनपरं शास्त्रं विरुध्यत
एवेति चेत् ?

पूर्व०—किन्तु ऐसा माननेपर भी
तो कर्तादि कारककी सत्ताका प्रति-
पादन करनेवाले शास्त्रका तो उससे
विरोध होता ही है ?

न; यथाप्राप्तमेव कारकास्ति-
त्वमुपादायोपात्तदुरितक्षयार्थं
कर्माणि विदधच्छास्त्रं मुमुक्षूणां

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है;
स्वभावतः प्राप्त कारकोंके अस्तित्वको
खोकार कर सञ्चित पापोंके क्षयके
लिये कर्मोंका विधान करनेवाला
शास्त्र मुमुक्षुओं और फलकी

फलार्थिनां च फलसाधनं न

कारकास्तित्वे व्याप्रियते । उप-

चितदुरितप्रतिबन्धस्य हि विद्यो-

त्पत्तिर्नावकल्पते । तत्क्षये च

विद्योत्पत्तिः स्यात्तत्त्वाविद्यानि-

वृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसारो-
परमः ।

अपि चानात्मदर्शिनो ह्यना-

ज्ञानादेव तु त्मविषयः कामः ।
कैवल्यम् कामयमानश्च करो-

ति कर्माणि । ततस्तत्फलोप-

भोगाय शरीराद्युपादानलक्षणः

संसारः । तद्व्यतिरेकेणात्मैक-

त्वदर्शिनो विषयाभावात्कामानु-

त्पत्तिरात्मनि चानन्यत्वात्का-

मानुत्पत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष

इत्यतोऽपि विद्याकर्मणोर्विरोधः ।

इच्छावालोंको [उनके इष्ट] फलकी प्राप्ति करानेका साधन है; वह कारकोंका अस्तित्व सिद्ध करनेमें प्रवृत्त नहीं है । जिस पुरुषका सञ्चित पापरूप प्रतिबन्ध विद्यमान रहता है उसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; उसका क्षय होजानेपर ही ज्ञान होता है और तभी अविद्याकी निवृत्ति होती है तथा उसके अनन्तर ही संसारकी आत्यन्तिक उपरति होती है ।

इसके सिवा जो पुरुष अनात्म-दर्शी है उसे ही अनात्मवस्तु-सम्बन्धिनी कामना हो सकती है; कामनावाला ही कर्म करता है और उसीसे उनका फल भोगनेके लिये उसे शरीरादिग्रहणरूप संसारकी प्राप्ति होती है । इसके विपरीत जो आत्मैकत्वदर्शी है उसकी दृष्टिमें विषयोंका अभाव होनेके कारण उसे उनकी कामना भी नहीं हो सकती । आत्मा तो अपनेसे अभिन्न है, इसलिये उसकी कामना भी असम्भव होनेके कारण उसे स्वात्मस्वरूपमें स्थित होनारूप मोक्ष सिद्ध ही है । इसलिये भी ज्ञान और कर्मका विरोध

विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति
न कर्माण्यपेक्षते ।

स्वात्मलाभे तु पूर्वोपचित-
प्रतिबन्धापनयद्वारेण विद्याहेतुत्वं
प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानीति ।
अत एवास्मिन्प्रकरण उपन्य-
स्तानि कर्माणीत्यवोचाम । एवं
चाविरोधः कर्मविधिश्रुतीनाम्
अतः केवलाया एव विद्यायाः
परं श्रेय इति सिद्धम् ।

एवं तर्ह्याश्रमान्तरानुपपत्तिः ।

कर्मनिमित्तत्वाद्विद्योत्पत्तेः । गा-
र्हस्थ्ये च विहितानि कर्माणी-
त्यैकाश्रम्यमेव । अतश्च यावज्जी-
वादिश्रुतयोऽनुकूलतराः ।

न; कर्मनिकृत्वात् । न ह्य-
ज्ञानसाधकानि ग्रिहोत्रादीन्येव क-
र्माणि । ब्रह्मचर्यं
तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसे-

है और विरोध होनेके कारण ही ज्ञान
मोक्षके प्रति कर्मकी अपेक्षा नहीं
रखता ।

हाँ, आत्मलाभमें पूर्वसञ्चित
पापरूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा
नित्यकर्म ज्ञानप्राप्तिके हेतु अवश्य
होते हैं । इसीलिये इस प्रकरणमें
कर्मोंका उल्लेख किया गया है—यह
हम पहले ही कह चुके हैं । इस
प्रकार भी कर्मका विधान करनेवाली
श्रुतियोंका [विद्याविधायिनी श्रुतियों-
से] विरोध नहीं है । अतः यह
सिद्ध हुआ कि केवल विद्यासे ही
परमश्रेयकी प्राप्ति होती है ।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तब
तो [गृहस्थाश्रमके सिवा] अन्य
आश्रमोंका होना भी उपपन्न नहीं
है, क्योंकि विद्याकी उत्पत्ति तो
कर्मके निमित्तसे होती है और कर्मों-
का विधान केवल गृहस्थके ही लिये
किया गया है; अतः इससे एकाश्रमत्व-
की ही सिद्धि होती है । और इसलिये
'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि
श्रुतियाँ और भी अनुकूल ठहरती हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि कर्म तो अनेक हैं । केवल
अग्निहोत्र आदि ही कर्म नहीं हैं ।
ब्रह्मचर्य, तप, सत्यभाषण, शम,
दम और अहिंसा आदि अन्य कर्म

त्येवमादीन्यपि कर्माणीतराश्रम-
प्रसिद्धानि विद्योत्पत्तौ साधक-
तमान्यसंकीर्णत्वाद्विद्यन्ते ध्यान-
धारणादिलक्षणानि च । वक्ष्यति
च—“तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व”
(तै० उ० ३ । २—५) इति ।

जन्मान्तरकृतकर्मभ्यश्च प्राग-
ज्ञानप्राप्ती पि गार्हस्थ्य्याद्विद्यो-
गार्हस्थ्यस्य त्पत्तिसंभवात्कर्मा-
आनर्थक्यम् र्थत्वाच्च गार्हस्थ्य-
प्रतिपत्तेः कर्मसाध्यायां च
विद्यायां सत्यां गार्हस्थ्यप्रति-
पत्तिरनर्थिकैव ।

लोकार्थत्वाच्च पुत्रादीनाम् ;
पुत्रादिसाध्येभ्यश्चायं लोकः पितृ-
लोको देवलोक इत्येतेभ्यो व्या-
वृत्तकामस्य नित्यसिद्धात्मलोक-
दर्शिनः कर्मणि प्रयोजनमपश्यतः
कथं प्रवृत्तिरुपपद्यते । प्रतिपन्न-
गार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्या-

भी इतर आश्रमोंके लिये प्रसिद्ध ही
हैं । वे तथा ध्यान-धारणादिरूप
कर्म [हिंसा आदि दोषोंसे]
असंकीर्ण होनेके कारण ज्ञानकी
उत्पत्तिमें सर्वोत्तम साधन हैं । आगे
(भृगु० २ । ५ में) यह कहेंगे
भी कि “तपके द्वारा ब्रह्मको जानने-
की इच्छा कर” ।

जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे तो
गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेसे पूर्व भी
ज्ञानकी उत्पत्ति होना सम्भव है ।
तथा गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति केवल
कर्मोंके ही लिये की जाती है ।
अतः कर्मसाध्य ज्ञानकी प्राप्ति हो
जानेपर तो गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति
भी व्यर्थ ही है ।

इसके सिवा पुत्रादि साधन तो
लोकोंकी प्राप्तिके लिये हैं । पुत्रादि
साधनोंसे सिद्ध होनेवाले उन इह-
लोक, पितृलोक एवं देवलोक आदि-
से जिसकी कामना निवृत्त हो गयी
है, नित्यसिद्ध आत्माका साक्षात्कार
करनेवाले एवं कर्मोंमें कोई प्रयोजन
न देखनेवाले उस ब्रह्मवेत्ताकी
कर्मोंमें कैसे प्रवृत्ति हो सकती
है ? जिसने गृहस्थाश्रम स्वीकार
कर लिया है उसे भी, जब ज्ञानकी

परिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयो-
जनमपश्यतः कर्मभ्यो निवृत्ति-
रेव स्यात् । “प्रव्रजिष्यन्वा अरे-
ऽहमस्मात्स्थानादस्मि” (वृ० उ०
४ । ५ । २) इत्येवमादिश्रुति-
लिङ्गदर्शनात् ।

कर्म प्रति श्रुतेर्यत्नाधिक्यद-
र्शनादयुक्तमिति चेदग्निहोत्रादि-
कर्म प्रति श्रुतेरधिको यत्नो
महांश्च कर्मण्यायासोऽनेकसाध-
नसाध्यत्वादग्निहोत्रादीनाम् ।
तपोब्रह्मचर्यादीनां चेतराश्रम-
कर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वाद-
ल्पसाधनापेक्षत्वाच्चेतरेषां न
युक्तस्तुल्यवद्विकल्प आश्रमिभि-
स्तस्येति चेत् ।

न; जन्मान्तरकृतानुग्रहात् ।

यदुक्तं कर्मणि श्रुतेरधिको
यत्न इत्यादि नासौ दोषः ।

प्राप्ति होती है और ज्ञानके परिपाक-
से विषयोंमें वैराग्य होता है तो,
कर्मोंमें अपना कोई प्रयोजन न देखकर
उनसे निवृत्ति ही होगी । इस विषयमें
“अरी मंत्रेयि ! अब मैं इस स्थानसे
संन्यास करना चाहता हूँ” इत्यादि
श्रुतिरूप लिङ्ग भी देखा जाता है ।

पूर्व०—किन्तु कर्मके प्रति श्रुतिका
अधिक प्रयत्न देखनेसे तो यह बात
ठीक नहीं जान पड़ती?—अग्निहोत्रादि
कर्मके प्रति श्रुतिका विशेष प्रयत्न है;
कर्मानुष्ठानमें आयास भी अधिक है,
क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म अनेक
साधनोंसे सिद्ध होनेवाले हैं । अन्य
आश्रमोंके कर्म तप और ब्रह्मचर्यादि
तो गृहस्थाश्रममें भी उन्हींके समान
कर्तव्य तथा अल्प साधनकी अपेक्षा-
वाले हैं; अतः अन्य आश्रमियोंके
साथ गृहस्थाश्रमको समान-सा-
मानना तो उचित नहीं है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनपर
जन्मान्तरका अनुग्रह होता है ।
तुमने जो कहा कि ‘कर्मपर
श्रुतिका विशेष प्रयत्न है’ इत्यादि,
सो यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि

यतो जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रा-
दिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादिलक्षणं
चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं
प्रति । येन जन्मनैव विरक्ता
दृश्यन्ते केचित् । केचित्तु कर्मसु
प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वे-
पिणः । तस्माज्जन्मान्तरकृत-
संस्कारेभ्यो विरक्तानामाश्रमा-
न्तरप्रतिपत्तिरेवेप्यते ।

कर्मफलबाहुल्याच्च; पुत्रस्व-
कर्मविधौ श्रुतेः गर्गब्रह्मवर्चसादिलक्ष-
प्रयासप्रयोजनम् णस्य कर्मफलस्या-
संख्येयत्वात्, तत्प्रति च पुरु-
पाणां कामबाहुल्यात्तदर्थः श्रुते-
रधिको यत्नः कर्मसूपपद्यते ।
आशिषां बाहुल्यदर्शनादिदं मे
स्यादिदं मे स्यादिति ।

उपायत्वाच्च; उपायभूतानि
हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवो-
चाम । उपायेऽधिको यत्नः
कर्तव्यो नोपेये ।

जन्मान्तरमें किया हुआ भी अग्नि-
होत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादिरूप कर्म
ज्ञानकी उत्पत्तिमें उपयोगी होता है,
जिससे कि कोई लोग तो जन्मसे ही
विरक्त देखे जाते हैं और कोई कर्ममें
तत्पर, वैराग्यशून्य एवं ज्ञानके
विरोधी दीख पड़ते हैं । अतः
जन्मान्तरके संस्कारोंके कारण जो
विरक्त हैं उन्हें तो [गृहस्थाश्रमसे
भिन्न] अन्य आश्रमोंको स्वीकार
करना ही इष्ट होता है ।

कर्मफलोंकी अधिकता होनेके
कारण भी [श्रुतिमें उनका
विशेष विस्तार है] । पुत्र, स्वर्ग एवं
ब्रह्मतेज आदि कर्मफल असंख्येय
होनेके कारण और उनके लिये
पुरुषोंकी कामनाओंकी अधिकता
होनेसे भी कर्मोंके प्रति श्रुतिका
अधिक यत्न होना उचित ही है,
क्योंकि 'मुझे यह मिले, मुझे यह
मिले' इस प्रकार कामनाओंकी
बहुलता भी देखी ही जाती है ।

उपायरूप होनेके कारण भी
[श्रुतिका उनमें विशेष प्रयत्न है] ।
कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें उपायरूप हैं—ऐसा
हम पहले कह चुके हैं; तथा प्रयत्न
उपायमें ही अधिक करना चाहिये,
उपेयमें नहीं ।

कर्मनिमित्तत्वाद्विद्याया यत्ना-
न्तरानर्थक्यमिति चेत्कर्मभ्य एव
पूर्वोपचितदुरितप्रतिबन्धक्षयादेव
विद्योत्पद्यते चेत्कर्मभ्यः पृथगुप-
निपच्छ्रवणादियत्नोऽनर्थक इति
चेत् ।

न; नियमाभावात् । न हि
प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते न
त्वीश्वरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठा-
नादिति नियमोऽस्ति । अहिंसा-
ब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युप-
कारकत्वात्साक्षादेव च कारणत्वा-
च्छ्रवणमनननिदिध्यासनानाम् ।
अतः सिद्धान्याश्रमान्तराणि
सर्वेषां चाधिकारो विद्यायां परं
च श्रेयः केवलाया विद्याया
एवेति सिद्धम् ।

पूर्व०—ज्ञान कर्मकेनिमित्तसे होने-
वाला है, इसलिये भी अन्य प्रयत्नकी
निरर्थकता सिद्ध होती है यदि कर्मों-
के द्वारा ही पूर्वसञ्चित पापरूप प्रति-
बन्धका क्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति
होती है तो कर्मोंसे भिन्न उपनिपच्छ्रव-
णादिविषयक प्रयत्न व्यर्थ ही है ।
ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा
कोई नियम नहीं है—‘ज्ञानकी उत्पत्ति
प्रतिबन्धके क्षयसे ही होती है,
ईश्वरकृपा तप एवं ध्यानादिके
अनुष्ठानसे नहीं हो सकती’ ऐसा
कोई नियम नहीं है; क्योंकि अहिंसा
एवं ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्तिमें
उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन और
निदिध्यासनादि तो उसके साक्षात्
कारण ही हैं । अतः अन्य आश्रमों-
का होना सिद्ध ही है, तथा ज्ञानमें
सभी आश्रमियोंका अधिकार है ।
इससे यह सिद्ध हुआ कि परमश्रेयकी
प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है ।

इति शिक्षावल्यामेकादशोऽनुवाकः ॥ ११ ॥

द्वादश अनुवाक

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गशम-
नार्थं शान्तिं पठति—

पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके
प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्ति-
पाठ किया जाता है—

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वयमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्मः । नमो
ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव
प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् ।
तन्मामावीत् । तद्वक्तामवावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तामम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥ १ ॥

मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिये सुखकर हो । वरुण हमारे लिये
सुखदाह हो । अयमा हमारे लिये सुखप्रद हो । इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे
लिये शान्तिदायक हों । तथा जिसका पादविक्षेप बहुत विस्तृत है वह
विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो । ब्रह्म [रूप वायु] को नमस्कार है ।
हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम्हींको हमने
प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है । तुम्हींको ऋत कहा है । तुम्हींको सत्य कहा है ।
अतः तुमने मेरी रक्षा की है तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले आचार्यकी
भी रक्षा की है । मेरी रक्षा की है और वक्ताकी भी रक्षा की है । त्रिविध
तापकी शान्ति हो ॥ १ ॥

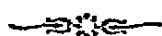
व्याख्यातमेतत्पूर्वम् ॥ १ ॥

इसकी व्याख्या पहले की जा
चुकी है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्यां द्वादशोऽनुवाकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये
शीक्षावल्ली समाप्ता ॥

ब्रह्मानन्दवल्ली



प्रथम अनुकाश

ब्रह्मानन्दवल्लीका शान्तिपाठ

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रश- मनार्था शान्तिः पठिता । इदानीं तु वक्ष्यमाणब्रह्मविद्याप्राप्त्युप- सर्गोपशमनार्था शान्तिः पठ्यते—	पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्ति- पाठ कर दिया गया । अब आगे कही जानेवाली विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्ति- पाठ किया जाता है—
--	--

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

[वह परमात्मा] हम, [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ
रक्षा करे, हम दोनोंका साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ वीर्यलभ
करें, हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो और हम परस्पर द्वेष न
करें । तीनों प्रकारके प्रतिबन्धोंकी शान्ति हो ।

सह नाववतु—नौ शिष्याचार्यौ
सहैवावतु रक्षतु । सह नौ भुनक्तु
भोजयतु । सह वीर्यं विद्यादि-
निमित्तं सामर्थ्यं करवावहै निर्वर्त-
यावहै । तेजस्वि नावावयोस्तेज-
स्विनोरधीतं स्वधीतमस्तु, अर्थ-
ज्ञानयोग्यमस्त्वित्यर्थः । मा
विद्विषावहै; विद्याग्रहणनिमित्तं
शिष्यस्याचार्यस्य वा प्रमादकृता-
दन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तस्तच्छमनाय
इयमाशीर्मा विद्विषावहा इति ।
मैवेतरेतरं विद्वेषमापद्यावहै ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति
त्रिवचनमुक्तार्थम् । वक्ष्यमाण-
विद्याविघ्नप्रशमनार्था चेयं
शान्तिः । अविघ्नेनात्मविद्या-
प्राप्तिराशास्यते तन्मूलं हि परं
श्रेय इति ।

‘सह नाववतु’—[वह ब्रह्म] हम
आचार्य और शिष्य दोनोंकी साथ-
साथ ही रक्षा करे और हमारा साथ-
साथ भरण अर्थात् पालन करे । हम
साथ-साथ वीर्य यानी विद्याजनित
सामर्थ्य सम्पादन करें; हम दोनों
तेजस्वियोंका अध्ययन किया हुआ
तेजस्वी—सम्यक् प्रकारसे अध्ययन
किया हुआ अर्थात् अर्थ-ज्ञानके योग्य
हो तथा हम विद्वेष न करें । विद्या-
ग्रहणके कारण शिष्य अथवा
आचार्यका प्रमादकृत अन्यायसे
द्वेष हो सकता है; उसकी शान्तिके
लिये ‘मा विद्विषावहै’ ऐसी कामना
की गयी है । तात्पर्य यह है कि
हम एक-दूसरेके विद्वेषको प्राप्त न हों ।

‘शान्तिः शान्तिः शान्तिः’ इस
प्रकार तीन बार ‘शान्ति’ शब्द
उच्चारण करनेका प्रयोजन पहले कहा
जा चुका है । यह शान्तिपाठ आगे
कही जानेवाली विद्याके विघ्नोंकी
शान्तिके लिये है । इसके द्वारा
निर्विघ्नतापूर्वक आत्मविद्याकी प्राप्ति-
की कामना की गयी है, क्योंकि वही
परम श्रेयका भी मूल कारण है ।



ब्रह्मज्ञानके फल, साष्टिकम और अवमयकोशरूप

पक्षीका वर्णन

संहितादिविषयाणि कर्मभि-

उपक्रमः

रविरुद्धान्युपासना-

न्युक्तानि । अनन्तरं

चान्तःसोपाधिकात्मदर्शनमुक्तं
व्याहृतिद्वारेण स्वाराज्यफलम् ।
न चैतावताशेषतः संसारबीज-
स्योपमर्दनमस्तीत्यतोऽशेषोपद्रव-
बीजस्याज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं विधूत-
सर्वोपाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिद-
मारभ्यते ब्रह्मविदामोति पर-
मित्यादि ।

प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया
अविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः
संसाराभावः । वक्ष्यति च-
“विद्वान्न विभेति कुतश्चन”
(तै० उ० २।९।१) इति ।
संसारनिमित्ते च सत्यभयं
प्रतिष्ठां च विन्दत इत्यनुपपन्नम्,
कृताकृते पुण्यपापे न तपत इति
च । अतोऽवगम्यतेऽस्माद्विज्ञाना-
त्सर्वात्मब्रह्मविषयादात्यन्तिकः
संसाराभाव इति ।

कर्मसे अविरुद्ध संहितादिविषयक
उपासनाओंका पहले वर्णन किया
गया । उसके पश्चात् व्याहृतियोंके
द्वारा स्वाराज्यरूप फल देनेवाला
हृदयस्थित सोपाधिक आत्मदर्शन
कहा गया । किन्तु इतनेहीसे संसार-
के बीजका पूर्णतया नाश नहीं हो
जाता । अतः सम्पूर्ण उपद्रवोंके
बीजभूत अज्ञानकी निवृत्तिके निमित्त
इस सर्वोपाधिरूप विशेषसे रहित
आत्माका साक्षात्कार करानेके लिये
अब ‘ब्रह्मविदामोति परम्’ इत्यादि
मन्त्र आरम्भ किया जाता है ।

इस ब्रह्मविद्याका प्रयोजन अविद्या-
की निवृत्ति है; उससे संसारका
आत्यन्तिक अभाव होता है । यही
वात “ब्रह्मवेत्ता किसीसे नहीं डरता”
इत्यादि वाक्यसे श्रुति आगे कहेगी
भी । संसारके निमित्त [अज्ञान]
के रहते हुए ‘पुरुष अभय स्थितिको
प्राप्त कर लेता है; तथा उसे कृत
और अकृत अर्थात् पुण्य और पाप
ताप नहीं पहुँचाते’ ऐसा मानना
सर्वथा अयुक्त है । इससे जाना
जाता है कि इस सर्वात्मक ब्रह्म-
विषयक विज्ञानसे ही संसारका
आत्यन्तिक अभाव होता है ।

स्वयमेव च प्रयोजनमाह
ब्रह्मविदामोति परमित्यादावेव
संबन्धप्रयोजनज्ञापनार्थम् । नि-
र्ज्ञातियोर्हि सम्बन्धप्रयोजनयो-
र्विद्याश्रवणग्रहणधारणाभ्यासार्थं
प्रवर्तते । श्रवणादिपूर्वकं हि
विद्याफलम् “श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यः” (वृ० उ०
२।४।५) इत्यादिश्रुत्यन्त-
रेभ्यः ।

इस प्रकरणके सम्बन्ध और
प्रयोजनका ज्ञान करानेके लिये
श्रुतिने स्वयं ही ‘ब्रह्मविदामोति परम्’
इत्यादि वाक्यसे आरम्भमें ही इसका
प्रयोजन बतला दिया है, क्योंकि
सम्बन्ध और प्रयोजनोंका ज्ञान हो
जानेपर ही पुरुष विद्याके श्रवण,
ग्रहण, धारण और अभ्यासके लिये
प्रवृत्त हुआ करता है । “श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यादि
दूसरी श्रुतियोंसे यह भी निश्चय
होता ही है कि विद्याका फल
श्रवणादिपूर्वक होता है ।

ब्रह्मविदामोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।
तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः ।
वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या
ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष
पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः ।
अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ।
तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है । उसके विषयमें यह
[श्रुति] कही गयी है—‘ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।’ जो पुरुष उसे
बुद्धिरूप परम आकाशमें निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे एक
साथ ही सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है । उस इस आत्मासे ही
आकाश उत्पन्न हुआ । आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल,

जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ओपधियाँ, ओपधियोंसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ । वह यह पुरुष अन्न एवं रसमय ही है । उसका यह [शिर] ही शिर है, यह [दक्षिण बाहु] ही दक्षिण पक्ष है, यह [वाम बाहु] वामपक्ष है, यह [शरीरका मध्यभाग] आत्मा है और यह [नीचेका भाग] पुच्छ प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

ब्रह्मविद्ब्रह्मेति वक्ष्यमाणलक्षणं

ब्रह्मविदो बृहत्तमत्वादब्रह्म त-
ब्रह्मप्राप्तिनिरूपणम् द्वेति विजानातीति
ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं
तदेव ब्रह्म परम् । न ह्यन्यस्य
विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिः । स्पष्टं
च श्रुत्यन्तरं ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्म-
विदो दर्शयति “ स यो ह वै
तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ”
(मु० उ० ३ । २ । ९) इत्यादि ।

ननु सर्वगतं सर्वस्यात्मभूतं
ब्रह्म वक्ष्यति । अतो नाप्यम् ।
प्राप्तिश्चान्यस्यान्येन परिच्छिन्नस्य
च परिच्छिन्नेन दृष्टा । अपरि-
च्छिन्नं सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः
परिच्छिन्नवदनात्मवच्च तस्याप्ति-
रनुपपन्ना ।

‘ब्रह्मवित्’—ब्रह्म, जिसका लक्षण
आगे कहा जायगा और जो
सबसे बड़ा होनेके कारण ‘ब्रह्म’
कहलाता है, उसे जो जानता है
उसका नाम ‘ब्रह्मवित्’ है; वह
ब्रह्मवित् उस परम—निरतिशय ब्रह्म-
को ही ‘आप्नोति’—प्राप्त कर लेता
है; क्योंकि अन्यके विज्ञानसे किसी
अन्यकी प्राप्ति नहीं हुआ करती ।
“वह, जो कि निश्चय ही उस परब्रह्म-
को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता
है” यह एक दूसरी श्रुति ब्रह्मवेत्ता-
को स्पष्टतया ब्रह्मकी ही प्राप्ति होना
प्रदर्शित करती है ।

शंका—ब्रह्म सर्वगत और सबका
आत्मा है—ऐसा आगे कहेंगे; इसलिये
वह प्राप्तन्य नहीं हो सकता । प्राप्ति
तो अन्य परिच्छिन्न पदार्थकी किसी
अन्य परिच्छिन्न पदार्थद्वारा ही होती
देखी गयी है । किन्तु ब्रह्म तो
अपरिच्छिन्न और सर्वात्मक है;
इसलिये परिच्छिन्न और अनात्म-
पदार्थके समान उसकी प्राप्ति होनी
असम्भव है ।

नायं दोषः; कथम् ? दर्श-
नादर्शनापेक्षत्वाद्ब्रह्मण आप्त्य-
नाप्त्योः । परमार्थतो ब्रह्मरूप-
स्यापि सतोऽस्य जीवस्य भूत-
मात्राकृतबाह्यपरिच्छिन्नान्नमया-
द्यात्मदर्शिनस्तदासक्तचेतसः प्र-
कृतसंख्यापूरणस्यात्मनोऽव्यव-
हितस्यापि बाह्यसंख्येयविषया-
सक्तचित्ततया स्वरूपाभावदर्शन-
वत्परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शन-
लक्षणयाविद्ययान्नमयादीन्बाह्या-
ननात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्न-
त्वादन्नमयाद्यनात्मभ्यो नान्यो-
ऽहमस्मीत्यभिमन्यते । एवमविद्य-
यात्मभूतमपि ब्रह्मानाप्तं स्यात् ।

समाधान—यह कोई दोषकी
बात नहीं है; किस प्रकार नहीं
है ? क्योंकि ब्रह्मकी प्राप्ति और
अप्राप्ति तो उसके साक्षात्कार और
असाक्षात्कारकी अपेक्षासे हैं । जिस
प्रकार [दशम पुरुषके लिये]
प्रकृत (दशम) संख्याकी पूर्ति
करनेवाला अपना-आप* सर्वथा
अव्यवहित होनेपर भी संख्या करने
योग्य बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त
रहनेके कारण वह अपने स्वरूपका
अभाव देखता है उसी प्रकार पञ्च-
भूत तन्मात्राओंसे उत्पन्न हुए बाह्य
परिच्छिन्न अन्नमय कोशादिमें आत्म-
भाव देखनेवाला यह जीव परमार्थतः
ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी उनमें आसक्त
हो जाता है और अपने परमार्थ
ब्रह्मस्वरूपका अभाव देखनारूप
अविद्यासे अन्नमय कोश आदि बाह्य
अनात्माओंको आत्मस्वरूपसे देखने-
के कारण 'मैं अन्नमय आदि
अनात्माओंसे भिन्न नहीं हूँ' ऐसा
अभिमान करने लगता है । इसी प्रकार
अपना आत्मा होनेपर भी अविद्यावश
ब्रह्म अप्राप्त ही है ।

* इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक बार दश मनुष्य यात्रा
कर रहे थे । रास्तेमें एक नदी पड़ी । जब उसे पार कर वे उसके दूसरे तटपर
पहुँचे तो यह जाननेके लिये कि हममेंसे कोई यह तो नहीं गया अपनेको गिनने
लगे । उनमेंसे जो भी गिनना आरम्भ करता वह अपनेको छोड़कर शेष नौको
ही गिनता । इस प्रकार एककी कमी रहनेके कारण वे यह समझकर कि हममेंसे
एक आदमी नदीमें बह गया है खिन्न हो रहे थे । इतनेहीमें एक बुद्धिमान्

तस्यैवमविद्ययानाप्तब्रह्मस्व-
रूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्म-
नोऽविद्ययानाप्तस्य सतः केन-
चित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव वि-
द्ययाप्तिर्यथा तथा श्रुत्युपदिष्टस्य
सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन
विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव ।

ब्रह्मविदामोति परमिति वाक्यं

उत्तरग्रन्थाव- सूत्रभूतम् । सर्वस्य
नरगिका बल्लघर्थस्य ब्रह्म-

विदामोति परमित्यनेन वाक्येन
वेद्यतया सूत्रितस्य ब्रह्मणोऽनि-
र्धारितस्वरूपविशेषस्य सर्वतो
व्यावृत्तस्वरूपविशेषसमर्पणसम-
र्थस्य लक्षणस्याभिधानेन स्वरूप-
निर्धारणायाविशेषेण चोक्तवेद-
नस्य ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य

जिस प्रकार प्रकृत (दशम)
संख्याको पूर्ण करनेवाला अपना-आप
अविद्यावश अप्राप्त रहता है और फिर
किसीके द्वारा स्मरण करा दिये जाने-
पर विद्याद्वारा उसको प्राप्ति हो जाती
है उसी प्रकार अविद्यावश जिसके
ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती
उस सबके आत्मभूत श्रुत्युपदिष्ट
ब्रह्मकी आत्मदर्शनरूप विद्याके द्वारा
प्राप्ति होनी उचित ही है ।

‘ब्रह्मविदामोति परम्’ यह वाक्य
सूत्रभूत है । जो सम्पूर्ण बल्लीके
अर्थका विषय है, जिसका ‘ब्रह्मविदा-
मोति परम्’ इस वाक्यद्वारा ज्ञातव्य-
रूपसे सूत्रतः उल्लेख किया गया
है, उस ब्रह्मके ऐसे लक्षणका—
जिसके विशेष रूपका निश्चय नहीं
किया गया है और जो सम्पूर्ण
वस्तुओंसे व्यावृत्त स्वरूपविशेषका
ज्ञान करानेमें समर्थ है—वर्णन करते
हुए स्वरूपका निश्चय करानेके लिये
तथा जिसके ज्ञानका सामान्यरूपसे
वर्णन कर दिया गया है उस आगे
कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त ब्रह्मको

पुरुष उधर आ निकला । उसने सब वृत्तान्त जानकर उन्हें एक लाइनमें खड़ा
किया और हाथमें डण्डा लेकर एक, दो, तीन—इस प्रकार गिनते हुए हर-
एकके एक-एक डण्डा लगाकर उन्हें दश होनेका निश्चय करा दिया और
यह भी दिखला दिया कि वह दशवाँ पुरुष स्वयं गिननेवाला ही था जो
दूसरोंमें आसक्तचित्त रहनेके कारण अपनेको भूले हुए था ।

विशेषेण प्रत्यगात्मतयानन्य-
रूपेण विज्ञेयत्वाय, ब्रह्मविद्याफलं
च ब्रह्मविदो यत्परब्रह्मप्राप्ति-
लक्षणमुक्तं स सर्वात्मभावः सर्व-
संसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वमेव
नान्यदित्येतत्प्रदर्शनायैषर्गुदाहि-
यते-तदेवाभ्युक्तेति ।

तत्तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्यो-
क्तेऽर्थ एषर्गभ्युक्तास्मात् । सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्ष-
णार्थं वाक्यम् । सत्यादीनि हि
त्रीणि विशेषणार्थानि पदानि
विशेष्यस्य ब्रह्मणः । विशेष्यं
ब्रह्म विवक्षितत्वाद्बेद्यतया ।
बेद्यत्वेन यतो ब्रह्म प्राधान्येन
विवक्षितं तस्माद्विशेष्यं विज्ञेयम् ।
अतः अस्माद् विशेषणविशेष्य-
त्वादेव सत्यादीनि एक
विभक्त्यन्तानि पदानि समाना-
धिकरणानि । सत्यादि-

विशेषतः 'अपना अन्तरात्मा होनेसे
अनन्यरूपसे जाननेयोग्य है' ऐसा
प्रतिपादन करनेके लिये और यह
दिखलानेके लिये कि-ब्रह्मवेत्ताको जो
परमात्माकी प्राप्तिरूप ब्रह्मविद्याका
फल बतलाया गया है वह सर्वात्मभाव
सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे अतीत
ब्रह्मस्वरूपता ही है-और कुछ नहीं
है-'तदेवाभ्युक्ता' यह ऋचा कही
जाती है ।

तत्-उस ब्राह्मणवाक्यद्वारा
बतलाये हुए अर्थमें ही [सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म] यह ऋचा कही गयी
है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह
वाक्य ब्रह्मका लक्षण करनेके लिये
है । 'सत्य' आदि तीन पद विशेष्य
ब्रह्मके विशेषण बतलानेके लिये हैं ।
बेद्यरूपसे विवक्षित (बतलाये जाने-
को इष्ट) होनेके कारण ब्रह्म
विशेष्य है । क्योंकि ब्रह्म प्रधानतया
बेद्यरूपसे (ज्ञानके विषयरूपसे)
विवक्षित है; इसलिये उसे विशेष्य
समझना चाहिये । अतः इस
विशेषण-विशेष्यभावके कारण एक
ही विभक्तिवाले 'सत्य' आदि तीनों
पद समानाधिकरण हैं । सत्य आदि

भिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म
विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते । एवं
हि तज्ज्ञानं भवति यदन्येभ्यो
निर्धारितम् । यथा लोके नीलं
महत्सुगन्ध्युत्पलमिति ।

ननु विशेष्यं विशेषणान्तरं

निर्विशेषस्य

विशेषणवत्त्वे

आक्षेपः

व्यभिचरद्विशेष्यते ।

यथा नीलं रक्तं

चोत्पलमिति । यदा ह्यनेकानि
द्रव्याण्येकजातीयान्यनेकविशेषण-
योगीनि च तदा विशेषणस्यार्थ-
वस्त्वम् । न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि
विशेषणान्तरायोगाद् । यथासा-
चेक आदित्य इति, तथैकमेव च
ब्रह्म न ब्रह्मान्तराणि येभ्यो
विशेष्येत नीलोत्पलवत् ।

न; लक्षणार्थत्वाद्विशेषणा-

ब्रह्मविशेषणानां नाम् । नायं दोषः;

तद्विशेषणार्थत्वम् कस्मात् ? यस्माच्च-

क्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि न

तीन विशेषणोंसे विशेषित होनेवाला
ब्रह्म अन्य विशेष्योंसे पृथग्रूपसे निश्चय
किया जाता है । जिसका अन्य पदार्थों-
से पृथक् रूपसे निश्चय किया गया है
उसका इसी प्रकार ज्ञान हुआ करता
है; जैसे लोकमें 'नील' विशाल और
सुगन्धित कमल [—ऐसा कहकर ऐसे
कमलका अन्य कमलोंसे पृथक् रूपसे
निश्चय किया जाता है] ।

शंका—अन्य विशेषणोंका व्यावर्तन
करनेपर ही कोई विशेष्य विशेषित
हुआ करता है; जैसे—नीला अथवा
लाल कमल । जिस समय अनेक द्रव्य
एक ही जातिके और अनेक विशेषणों-
की योग्यतावाले होते हैं तभी
विशेषणोंकी सार्थकता होती है । एक
ही वस्तुमें, किसी अन्य विशेषणका
सम्बन्ध न हो सकनेके कारण,
विशेषणकी सार्थकता नहीं होती ।
जिस प्रकार यह सूर्य एक है उसी प्रकार
ब्रह्म भी एक ही है; उसके सिवा अन्य
ब्रह्म हैं ही नहीं, जिनसे कि नील
कमलके समान उसकी विशेषता
बतलायी जाय ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक
नहीं है, क्योंकि ये विशेषण लक्षणके
लिये हैं । [अब इस सूत्ररूप वाक्य-
की ही व्याख्या करते हैं—] यह
दोष नहीं हो सकता; क्यों नहीं हो
सकता ? क्योंकि ये विशेषण लक्षणार्थ-

विशेषणप्रधानान्येव । कः पुनर्लक्ष-
णलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा
विशेष इति ? उच्यते ; समान-
जातीयेभ्य एव निवर्तकानि
विशेषणानि विशेष्यस्य । लक्षणं
तु सर्वत एव यथावकाशप्रदात्रा-
काशमिति । लक्षणार्थं च वाक्य-
मित्यवोचाम ।

सत्यादिशब्दा न परस्परं
सत्यमित्यस्य संबध्यन्ते परार्थ-
व्याख्यानं त्वात् । विशेष्यार्था-
हिते । अत एकैको विशेषण-
शब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्म-
शब्देन संबध्यते सत्यं ब्रह्म
ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति ।

सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं
तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम् ।
यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभि-

प्रधान हैं, केवल विशेषणप्रधान ही
नहीं हैं । किन्तु लक्षण-लक्ष्य तथा
विशेषण-विशेष्यमें विशेषता (अन्तर)
क्या है ? सो बतलाते हैं—विशेषण
तो अपने विशेष्यका उसके सजातीय
पदार्थोंसे ही व्यावर्तन करनेवाले
होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभीसे
व्यावृत्त कर देता है; जिस प्रकार
अवकाश देनेवाला 'आकाश' होता
है—इस वाक्यमें है । *यह हम पहले
ही कह चुके हैं कि यह वाक्य
[आत्माका] लक्षण करनेके लिये है ।

सत्यादि शब्द परार्थ (दूसरेके
लिये) होनेके कारण परस्पर
सम्बन्धित नहीं हैं । वे तो विशेष्य-
के ही लिये हैं । अतः उनमेंसे
प्रत्येक विशेषणशब्द परस्पर एक-
दूसरेकी अपेक्षा न रखकर ही 'सत्यं
ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म' इस
प्रकार 'ब्रह्म' शब्दसे सम्बन्धित है ।

सत्यम्—जो पदार्थ जिस रूपसे
निश्चय किया गया है उससे व्यभि-
चरित न होनेके कारण वह सत्य
कहलाता है । जो पदार्थ जिस रूपसे
निश्चित किया गया है उस रूपसे

* इस वाक्यमें 'अवकाश देनेवाला' यह पद उसके सजातीय अन्य
महाभूतोंसे तथा विजातीय आत्मा आदिसे भी व्यावृत्त कर देता है ।

चरद्वृतमित्युच्यते । अतो वि-
कारोऽनृतम् । “वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव
सत्यम्” (छा० उ० ६।१।४)
एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात् ।
अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विका-
रान्निवर्तयति ।

अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः ।

ज्ञानमित्यस्य
तात्पर्यम्
ज्ञानकर्तृत्वाभाव-
निरूपणं च

कारणस्य च कार-
कत्वं वस्तुत्वान्मृद्व-
दचिद्रूपता च प्रा-
प्तात् इदमुच्यते

ज्ञानं ब्रह्मेति । ज्ञानं ज्ञप्तिरव-
बोधः, भावसाधनो ज्ञानशब्दो
न तु ज्ञानकर्तृ ब्रह्मविशेषण-
त्वात्सत्यानन्ताभ्यां सह । न
हि सत्यतानन्तता च ज्ञान-
कर्तृत्वे सत्युपपद्यते । ज्ञान-
कर्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कथं
सत्यं भवेदनन्तं च । यद्वि न

व्यभिचरित होनेपर वह मिथ्या कहा
जाता है । इसलिये विकार मिथ्या
है । “विकार केवल वाणांसे आरम्भ
होनेवाला और नाममात्र है, वस्तु,
मृत्तिका ही सत्य है” इस प्रकार
निश्चय किया जानेके कारण सत्
ही सत्य है । अतः ‘सत्यं ब्रह्म’
वह वाक्य ब्रह्मको विकारमात्रसे
निवृत्त करता है ।

इससे ब्रह्मका कारणत्व प्राप्त
होता है और वस्तुरूप होनेसे
कारणमें कारकत्व रहा करता है ।
अतः मृत्तिकाके समान उसकी जड-
रूपताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता
है । इसीसे ‘ज्ञानं ब्रह्म’ ऐसा कहा
है । ‘ज्ञान’ ज्ञप्ति यानी अवबोधको
कहते हैं । ‘ज्ञान’ शब्द भाववाचक
है; ‘सत्य’ और ‘अनन्त’ के
साथ ब्रह्मका विशेषण होनेके कारण
उसका अर्थ ‘ज्ञानकर्ता’ नहीं हो
सकता । उसका ज्ञानकर्तृत्व स्वीकार
करनेपर ब्रह्मकी सत्यता और
अनन्तता सम्भव नहीं है । ज्ञान-
कर्तृरूपसे विकारको प्राप्त होनेवाला
होकर ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे
हो सकता है ? जो किसीसे भी

कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम् ।
 ज्ञानकर्तृत्वे च ज्ञेयज्ञानाभ्यां
 प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात् ।
 “यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा
 अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्”
 (छा० उ० ७ । २४ । १) इति
 श्रुत्यन्तरात् ।

नान्यद्विजानातीति विशेष-

प्रतिषेधादात्मानं विजानातीति

चेन्न; भूमलक्षणविधिपरत्वाद्वा-

क्यस्य । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादि

भूमो लक्षणविधिपरं वाक्यम् ।

यथा प्रसिद्धमेवान्योऽन्यत्पश्य-

तीत्येतदुपादाय यत्र तन्नास्ति

स भूमेति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्य-

ते । अन्यग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थ-

त्वान् स्वात्मनि क्रियास्तित्वपरं

वाक्यम् । स्वात्मनि च भेदा-

विभक्त नहीं होता वही अनन्त हो सकता है । ज्ञानकर्ता होनेपर तो वह ज्ञेय और ज्ञानसे विभक्त होगा; इसलिये उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी । “जहाँ किसी दूसरेको नहीं जानता वह भूमा है और जहाँ किसी दूसरेको जानता है वह अल्प है” इस एक दूसरी श्रुतिसे यही सिद्ध होता है ।

इस श्रुतिमें ‘दूसरेको नहीं जानता’ इस प्रकार विशेषका प्रतिषेध होनेके कारण वह स्वयं अपनेको ही जानता है—ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो ठीक नहीं, क्योंकि यह वाक्य भूमाके लक्षणका विधान करनेमें प्रवृत्त है । ‘यत्र नान्यत्पश्यति’ इत्यादि वाक्य भूमाके लक्षणका विधान करनेमें तत्पर है । अन्य अन्यको देखता है—इस लोक-प्रसिद्ध वस्तुस्थितिको स्वीकार कर ‘जहाँ ऐसा नहीं है वह भूमा है’—इस प्रकार उसके द्वारा भूमाके स्वरूपका बोध कराया जाता है । ‘अन्य’ शब्दका ग्रहण तो यथाप्राप्त द्वैतका प्रतिषेध करनेके लिये है; अतः यह वाक्य अपनेमें क्रियाका अस्तित्व प्रतिपादन करनेके लिये नहीं है । और स्वात्ममें तो भेदका अभाव होनेके कारण उसका विज्ञान होना

भावाद्विज्ञानानुपपत्तिः । आत्म-
नश्च विज्ञेयत्वे ज्ञात्रभावप्रसङ्गः;
ज्ञेयत्वेनैव विनियुक्तत्वात् ।

एक एवात्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृ-
त्वेन चोभयथा भवतीति चेत् ?

न युगपदनशत्वात् । न हि
निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वो-
पपत्तिः । आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञे-
यत्वे ज्ञानोपदेशानर्थक्यम् । न
हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोप-
देशोऽर्थवान् । तस्माज्ज्ञातृत्वे
सति आनन्त्यानुपपत्तिः ।

सन्मात्रत्वं चानुपपन्नं ज्ञान-
कर्तृत्वादिविशेषवत्त्वे सति । स-
न्मात्रत्वं च सत्यत्वम्, “तत्स-
त्यम्” (छा० उ० ६।८।१६)
इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मा-
त्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विशे-

सम्भव ही नहीं है । आत्माका
विज्ञेयत्व स्वीकार करनेपर तो ज्ञाताके
अभावका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता
है, क्योंकि वह तो विज्ञेयरूपसे ही
विनियुक्त (प्रयुक्त) हो चुका है ।
[अब उसे ज्ञाता कैसे माना जाय ?]

शंका—एक ही आत्मा ज्ञेय और
ज्ञाता दोनों प्रकारसे हो सकता है—
ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं, वह अंशरहित
होनेके कारण एक साथ उभयरूप
नहीं हो सकता । निरवयव ब्रह्मका
एक साथ ज्ञेय और ज्ञाता होना
सम्भव नहीं है । इसके सिवा यदि
आत्मा घटादिके समान विज्ञेय हो
तो ज्ञानके उपदेशकी व्यर्थता हो
जायगी । जो वस्तु घटादिके समान
प्रसिद्ध है उसके ज्ञानका उपदेश
सार्थक नहीं हो सकता । अतः
उसका ज्ञातृत्व माननेपर उसका
अनन्तता नहीं रह सकती । ज्ञान-
कर्तृत्वादि विशेषसे युक्त होनेपर
उसका सन्मात्रत्व भी सम्भव नहीं
है । और “वह सत्य है” इस एक
अन्य श्रुतिसे उसका सत्यरूप होना
ही सन्मात्रत्व है । अतः ‘सत्य’ और
‘अनन्त’ शब्दोंके साथ विशेषण-

पणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगा-
ज्ञावसाधनो ज्ञानशब्दः । ज्ञानं
ब्रह्मेति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं
मृदादिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च
प्रयुज्यते ।

ज्ञानं ब्रह्मेतिवचनात्प्राप्तमन्त-
अनन्तमित्यस्य वत्त्वम् । लौकिकस्य
निरक्तिः ज्ञानस्यान्तवत्त्वदर्श-
नात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह—
अनन्तमिति ।

सत्यादीनामनृतादिधर्मनिवृत्ति-
ब्रह्मणः शून्यार्थ- परत्वाद्विशेष्यस्य
त्वमाशङ्क्यते ब्रह्मण उत्पलादि-
वदप्रसिद्धत्वात् “मृगतृष्णाम्भसि
स्नातः खपुष्पकृतशेखरः ।
एष बन्ध्यासुतो याति शशशृङ्ग-
धनुर्धरः” इतिवच्छून्यार्थतैव
प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेत् ?
न; लक्षणार्थत्वात् । विशेष-
पणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थ-

रूपसे ‘ज्ञान’ शब्दका प्रयोग किया
जानेके कारण वह भाववाचक है ।
अतः ‘ज्ञानं ब्रह्म’ इस विशेषणका उसके
कर्तृत्वादि कारकोंकी निवृत्तिके लिये
तथा मृत्तिका आदिके समान उसकी
जडरूपताकी निवृत्तिके लिये प्रयोग
किया जाता है ।

‘ज्ञानं ब्रह्म’ ऐसा कहनेसे ब्रह्मका
अन्तवत्त्व प्राप्त होता है, क्योंकि
लौकिक ज्ञान अन्तवान् ही देखा
गया है । अतः उसकी निवृत्ति-
के लिये ‘अनन्तम्’ ऐसा कहा
है ।

शंका—सत्यादि शब्द तो
अनृतादि धर्मोंकी निवृत्तिके लिये हैं
और उनका विशेष्य ब्रह्म कमल
आदिके समान प्रसिद्ध नहीं है; अतः
“मृगतृष्णाके जलमें स्नान करके
शिरपर आकाशकुसुमका मुकुट
धारण किये तथा हाथमें शशशृङ्गका
धनुष लिये यह बन्ध्याका पुत्र जा
रहा है” इस उक्तिके समान इस
‘सत्यं ज्ञानम्’ इत्यादि वाक्यकी
शून्यार्थता ही प्राप्त होती है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वे
[सत्यादि] लक्षण करनेके लिये हैं ।

प्राधान्यमित्यवोचाम । शून्ये हि लक्ष्येऽनर्थकं लक्षणवचनं लक्षणा-
र्थत्वान्मन्यामहे न शून्यार्थतेति । विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां
स्वार्थापरित्याग एव । शून्यार्थत्वे हि सत्यादि-
शब्दानां विशेष्यनियन्तृत्वानुप-
पत्तिः । सत्याद्यर्थैरर्थवत्त्वे तु
तद्विपरीतधर्मवद्भ्यो विशेष्येभ्यो
ब्रह्मणो विशेष्यस्य नियन्तृत्वमुप-
पद्यते । ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थ-
वानेव । तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्व-
प्रतिषेधद्वारेण विशेषणम् । सत्य-
ज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव
विशेषणे भवतः ।

“तस्माद्वा एतस्मादात्मनः” इति

ब्रह्मण्येवात्मशब्दप्रयोगाद्देदितु-

सत्यादि शब्द विशेषण होनेपर भी
उनका प्रधान प्रयोजन लक्षणके लिये
होना ही है—यह हम पहले ही कह
चुके हैं । यदि लक्ष्य शून्य हो तब
तो उसका लक्षण बतलाना भी व्यर्थ
ही होगा । अतः लक्षणार्थ होनेके
कारण उनकी शून्यार्थता नहीं है—
ऐसा हम मानते हैं । विशेषणके
लिये होनेपर भी सत्यादि शब्दके
अपने अर्थका त्याग तो होता ही
नहीं है । यदि सत्यादि शब्दोंकी
शून्यार्थता हो तो वे अपने विशेष्यके
नियन्ता हैं—ऐसा नहीं माना जा
सकता । सत्यादि अर्थोंसे अर्थवान्
होनेपर ही उनके द्वारा अपनेसे विपरीत
धर्मवाले विशेष्योंसे अपने विशेष्य ब्रह्म-
का नियन्तृत्व बन सकता है । ‘ब्रह्म’
शब्द भी अपने अर्थसे अर्थवान् ही
है । उन [सत्यादि तीन शब्दों] में
‘अनन्त’ शब्द उसके अन्तवत्त्वका
प्रतिषेध करनेके द्वारा उसका विशेषण
होता है तथा ‘सत्य’ और ‘ज्ञान’
शब्द तो अपने अर्थोंके समर्पणद्वारा
ही उसके विशेषण होते हैं ।

शंका—“उस इस आत्मासे आकाश
उत्पन्न हुआ” इस श्रुतिमें ‘आत्मा’
शब्दका प्रयोग ब्रह्मके ही लिये

रात्मैव ब्रह्म । “एतमानन्दमयमा-
त्मानमुपसंक्रामति” (तै० उ०
२।८।५) इति चात्मतां दर्शयति ।
तत्प्रवेशाच्च; “तत्सृष्ट्वा तदेवानु-
प्राविशत्” (तै० उ० २।६।१)
इति च तस्यैव जीवरूपेण शरीर-
प्रवेशं दर्शयति । अतो वेदितुः
स्वरूपं ब्रह्म ।

एवं तर्ह्यात्मत्वाज्ज्ञानकर्तृ-
त्वम् । आत्मा ज्ञातेति हि
प्रसिद्धम् । “सोऽक्रामयत्” (तै०
उ० २।६।१) इति च कामिनो
ज्ञानकर्तृत्वाज्ज्ञप्तिर्ब्रह्मेत्युक्तम् ।

अनित्यत्वप्रसङ्गाच्च । यदि
नाम ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावरूपता
ब्रह्मणस्तथाप्यनित्यत्वं प्रसज्येत
पारतन्त्र्यं च । धात्वर्थानां
कारकापेक्षत्वात् । ज्ञानं च

किया जानेके कारण ब्रह्म
जाननेवालेका आत्मा ही है । “इस
आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता
है” इस वाक्यसे श्रुति उसकी,
आत्मता दिखलाती है तथा उसके
प्रवेश करनेसे भी [उसका आत्मत्व
सिद्ध होता है] । “उसे रचकर वह
उसीमें प्रविष्ट हो गया” ऐसा कहकर
श्रुति उसीका जीवरूपसे शरीरमें
प्रवेश होना दिखलाती है । अतः
ब्रह्म जाननेवालेका स्वरूप ही है ।

इस प्रकार आत्मा होनेसे तो
उसे ज्ञानका कर्तृत्व सिद्ध होता है ।
‘आत्मा ज्ञाता है’ यह बात तो
प्रसिद्ध ही है । “उसने कामना की”
इस श्रुतिसे कामना करनेवालेके
ज्ञानकर्तृत्वकी सिद्धि होती है । अतः
ब्रह्मका ज्ञानकर्तृत्व निश्चित होनेके
कारण ‘ब्रह्म ज्ञप्तिमात्र है’ ऐसा कहना
अनुचित है ।

इसके सिवा ऐसा माननेसे
अनित्यत्वका प्रसङ्ग भी उपस्थित
होता है । यदि ‘ज्ञान ज्ञप्तिको कहते
हैं’ इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मकी
भावरूपता मानी जाय तो भी
उसके अनित्यत्व और पारतन्त्र्यका
प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, क्योंकि
धातुओंके अर्थ कारकोंकी अपेक्षावाले

धात्वर्थोऽतोऽस्यानित्यत्वं पर-
तन्त्रता च ।

न, स्वरूपाव्यतिरेकेण कार्य-

तज्जिरसनम्

त्वोपचारात् । आ-
त्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिर्न

ततो व्यतिरिच्यतेऽतो नित्यैव ।

तथापि बुद्धेरुपाधिलक्षणायाश्च-

क्षुरादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणा-

मिन्या ये शब्दाद्याकारावभासाः

त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता

उत्पद्यमाना एवात्मविज्ञानेन

व्याप्ता उत्पद्यन्ते । तस्मादात्म-

विज्ञानावभासाश्च ते विज्ञान-

शब्दवाच्याश्च धात्वर्थभूता

आत्मन एव धर्मा विक्रियारूपा

इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते ।

यत्तु यद्ब्रह्मणो विज्ञानं तत्

सवितृप्रकाशवदग्न्युष्णवच्च ब्रह्म-

स्वरूपाव्यतिरिक्तं स्वरूपमेव तत् ;

हुआ करते हैं । ज्ञान भी धातुका
अर्थ है; अतः इसकी भी अनित्यता
और परतन्त्रता सिद्ध होती है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है;
क्योंकि ज्ञान ब्रह्मके स्वरूपसे अभिन्न
है, इस कारण उसका कार्यत्व केवल
उपचारसे है । आत्माका स्वरूप जो
'ज्ञप्ति' है वह उससे व्यतिरिक्त
नहीं है । अतः वह (ज्ञप्ति) नित्या
ही है । तथापि चक्षु आदिके द्वारा
विषयरूपमें परिणत होनेवाली
उपाधिरूप बुद्धि की जो शब्दादिरूप
प्रतीतियाँ हैं वे आत्मविज्ञानकी
विषयभूत होकर उत्पन्न होती हुई
आत्मविज्ञानसे व्याप्त ही उत्पन्न
होती हैं [अर्थात् अपनी उत्पत्तिके
समय उन प्रतीतियोंमें तो आत्म-
विज्ञानसे प्रकाशित होनेकी योग्यता
रहती है और आत्मविज्ञान उन्हें
प्रकाशित करता रहता है] ।
अतः वे धातुओंकी अर्थभूत
एवं 'विज्ञान' शब्दवाच्य आत्म-
विज्ञानकी प्रतीतियाँ आत्माका ही
विकाररूप धर्म हैं—ऐसी अविवेकियों-
द्वारा कल्पना की जाती है ।

किन्तु उस ब्रह्मका जो विज्ञान
है वह सूर्यके प्रकाश तथा अग्नि की
उष्णताके समान ब्रह्मके स्वरूपसे
भिन्न नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप

न तत्कारणान्तरसव्यपेक्षम् ।
नित्यस्वरूपत्वात् । सर्वभावानां च
तेनाविभक्तदेशकालत्वात् काला-
काशादिकारणत्वाच्च निरतिशय-
सूक्ष्मत्वाच्च । न तस्यान्यदविज्ञेयं
सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं
भयद्भविष्यद्वास्ति । तस्मात्सर्वज्ञं
तद्ब्रह्म ।

मन्त्रवर्णाच्च—“अपाणिपादो
जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स
शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न
च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्न्यं
पुरुषं महान्तम्” (श्वे० उ० ३।
१९) इति । “न हि विज्ञातुर्वि-
ज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविना-
शित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति”
(वृ० उ० ४।३।३०) इत्यादि
श्रुतेश्च । विज्ञातृस्वरूपाव्यतिरेका-
त्करणादिनिमित्तानपेक्षत्वाच्च ब्र-
ह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वेऽपि नित्यत्व-

ही है; उसे किसी अन्य कारणकी
अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह नित्य-
स्वरूप है । तथा उस ब्रह्मसे सम्पूर्ण
भावपदार्थोंके देश-काल अभिन्न हैं,
और वह काल तथा आकाशादि-
का भी कारण एवं निरतिशय सूक्ष्म
है; अतः ऐसी कोई सूक्ष्म, व्यवहित
(व्यवधानवाली), विप्रकृष्ट (दूर)
तथा भूत, भविष्यत् या वर्तमान
वस्तु नहीं है जो उसके द्वारा जानी
न जाती हो; इसलिये वह ब्रह्म
सर्वज्ञ है ।

“वह बिना हाथ-पाँवके ही वेगसे
चलने और ग्रहण करनेवाला है, बिना
नेत्रके ही देखता है और बिना
कानके ही सुनता है । वह सम्पूर्ण वेद्य-
मात्रको जानता है, उसे जाननेवाला,
और कोई नहीं है, उसे सर्वप्रथम परम-
पुरुष कहा गया है ।” इस मन्त्रवर्ण-
से तथा “अविनाशी होनेके कारण
विज्ञाताके ज्ञानका कमी लोप नहीं
होता और उससे भिन्न कोई दूसरा
भी नहीं है [जो उसे देखे]”
इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध
होता है । अपने विज्ञातृस्वरूपसे
अभिन्न तथा इन्द्रियादि साधनोंकी
अपेक्षासे रहित होनेके कारण ज्ञान-
स्वरूप होनेपर भी ब्रह्मका नित्यत्व

प्रसिद्धिरतो नैव धात्वर्थस्तद-
क्रियारूपत्वात् ।

अत एव च न ज्ञानकर्तृ,
तस्मादेव च न ज्ञानशब्दवाच्य-
मपि तद्ब्रह्म । तथापि तदाभास-
वाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञान-
शब्देन लक्ष्यते न तूच्यते ।
शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहित-
त्वात् । तथा सत्यशब्देनापि । सर्व
विशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो
बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्य-
शब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति न
तु सत्यशब्दवाच्यमेव ब्रह्म ।

एवं सत्यादिशब्दा इतरेतर-
संनिधावन्योन्यनियम्यनियाम-
काः सन्तः सत्यादिशब्दवाच्या-
त्तन्निवर्तका ब्रह्मणो लक्षणार्थाश्च
भवन्तीत्यतः सिद्धम् “यतो वाचो
निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह”

भली प्रकार सिद्ध ही है । अतः
क्रियारूप न होनेके कारण वह
(ज्ञान) धातुका अर्थ भी नहीं है ।

इसीलिये वह ज्ञानकर्ता भी नहीं
है और इसीसे वह ब्रह्म ‘ज्ञान’
शब्दका वाच्य भी नहीं है । तो भी
ज्ञानाभासके वाचक तथा बुद्धि-
के धर्मविषयक ‘ज्ञान’ शब्दसे वह
लक्षित होता है—कहा नहीं जाता,
क्योंकि वह शब्दकी प्रवृत्तिके हेतु-
भूत जाति आदि धर्मोंसे रहित है ।
इसी प्रकार ‘सत्य’ शब्दसे भी
[उसको लक्षित ही किया जा सकता
है] ब्रह्मका स्वरूप सम्पूर्णविशेषणों-
से शून्य है; अतः वह सामान्यतः
सत्ता ही जिसका विषय—अर्थ है
ऐसे ‘सत्य’ शब्दसे ‘सत्यं ब्रह्म’ इस
प्रकार केवल लक्षित होता है—ब्रह्म
‘सत्य’ शब्दका वाच्य ही नहीं है ।

इस प्रकार ये सत्यादि शब्द
एक-दूसरेकी सन्निधिसे एक-दूसरेके
नियम्य और नियामक होकर
सत्यादि शब्दोंके वाच्यार्थसे ब्रह्मको
अलग रखनेवाले और उसका लक्षण
करनेमें उपयोगी होते हैं । अतः
“जहाँसे मनके सहित वाणी उसे

(तै० उ० २।४।१) “अ-
निरुक्तेऽनिलयने” (तै० उ० २।
७।१) इति चावाच्यत्वं
नीलोत्पलवदवाक्यार्थत्वं च
ब्रह्मणः ।

तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यो वेद
गुणशब्दार्थ- विजानाति निहितं
निर्वचनम् स्थितं गुहायाम् ।
गूढतेः संवरणार्थस्य निगूढा
अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति
गुहा बुद्धिः । गूढावस्यां भोगा-
पवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्यां
परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योमन्याका-
शेऽव्याकृताख्ये । तद्वि परमं
व्योम “एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्या-
काशः” (वृ० उ० ३।८।११)
इत्यक्षरसंनिकर्षात् । गुहायां

न पाकर ~~अती है~~ “न कहने-
योग्य और अनासक्तसमर्थक्युपादि
श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्मका सत्यादि
शब्दोंका अवाच्यत्व और नील-
कमलके समान अवाक्यार्थत्व सिद्ध
होता है ।*

उपर्युक्त प्रकारसे व्याख्या किये
हुए उस ब्रह्मको जो पुरुष गुहामें
निहित (छिपा हुआ) जानता
है । संवरण अर्थात् आच्छादन अर्थ-
वाले ‘गुह्’ धातुसे ‘गुहा’ शब्द
निष्पन्न होता है; इस (गुहा) में
ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृ पदार्थ निगूढ
(छिपे हुए) हैं इसलिये ‘गुहा’
बुद्धिका नाम है । अथवा उसमें
भोग और अपवर्ग—ये पुरुषार्थ निगूढ
अवस्थामें स्थित हैं; अतः गुहा है ।
उसके भीतर परम—प्रकृष्ट व्योम—
आकाशमें अर्थात् अव्याकृताकाशमें,
क्योंकि “हे गार्गि ! निश्चय इस
अक्षरमें ही आकाश [ओतप्रोत है]”
इस श्रुतिके अनुसार अक्षरकी
सन्निधिमें होनेसे यह अव्याकृताकाश

* तात्पर्य यह है कि वाच्य-वाचक-भाव ब्रह्मका बोध करानेमें समर्थ नहीं
हो सकता; अतः ब्रह्म इन शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता और सम्पूर्ण द्वैतकी
निवृत्तिके अधिष्ठानरूपसे लक्षित होनेके कारण वह नीलकमल आदिके समान
गुण-गुणीरूप संसर्गसूचक वाक्योंका भी अर्थ नहीं हो सकता ।

व्योम्नीति वा सामानाधिकरण्या-
दव्याकृताकाशमेव गुहा । तत्रा-
पि निगूढाः सर्वे पदार्थास्त्रिषु
कालेषु कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वा-
च्च । तस्मिन्नन्तर्निहितं ब्रह्म ।

हार्दमेव तु परमं व्योमेति
न्याय्यं विज्ञानाङ्गत्वेनोपासनाङ्ग-
त्वेन व्योम्नो विवक्षितत्वात् ।
“यो वै स वहिर्धा पुरुषादा-
काशः” (छा० उ० ३ । १२ ।
७) “यो वै सोऽन्तःपुरुष
आकाशः” (छा० उ० ३ । १२ ।
८) “योऽयमन्तर्हृदय आकाशः”
(छा० उ० ३ । १२ । ९)
इति श्रुत्यन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य
व्योम्नः परमत्वम् । तस्मिन्हार्दे
व्योम्नि या बुद्धिर्गुहा तस्यां
निहितं ब्रह्म तद्वृत्त्या विविक्त-
तयोपलभ्यत इति । न ह्यन्यथा
विशिष्टदेशकालसंबन्धोऽस्ति ब्र-
ह्मणः सर्वगतत्वान्निर्विशेषत्वाच्च ।

ही परमाकाश है । अथवा ‘गुहायां
व्योम्नि’ इस प्रकार इन दोनों पदों-
का सामानाधिकरण्य होनेके कारण
आकाशको ही गुहा कहा गया है,
क्योंकि सबका कारण और सूक्ष्मतर
होनेके कारण उसमें भी तीनों
कालोंमें सारे पदार्थ छिपे हुए हैं ।
उसीके भीतर ब्रह्म भी स्थित है ।

परन्तु युक्तियुक्त तो यही है कि
हृदयाकाश हो परमाकाश है, क्योंकि
उस आकाशको विज्ञानाङ्ग यानी
उपासनाके अंगरूपसे बतलाना यहाँ
इष्ट है । “जो आकाश इस [शरीर-
संज्ञक] पुरुषसे बाहर है” “जो
आकाश इस पुरुषके भीतर है” “जो
यह आकाश हृदयके भीतर है” इस
प्रकार एक अन्य श्रुतिसे हृदयाकाश-
का परमत्व प्रसिद्ध है । उस हृदया-
काशमें जो बुद्धिरूप गुहा है उसमें
ब्रह्म निहित है; अर्थात् उस (बुद्धि-
वृत्ति) से वह व्यावृत्त (पृथक्)
रूपसे स्पष्टतया उपलब्ध होता है;
अन्यथा ब्रह्मका किसी भी विशेष
देश या कालसे सम्बन्ध नहीं है,
क्योंकि वह सर्वगत और निर्विशेष है ।

स एवं ब्रह्म विजानन्किमि-
 त्याह—अश्नुते, भुङ्क्ते
 सर्वान्निरवशिष्टान्का-
 मान्भोगानित्यर्थः । किमसदादि-
 वत्पुत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण नेत्याह ।
 सह युगपदेकक्षणोपारूढानेव
 एकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवत्
 नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्त्या
 यामवोचाम सत्यं ज्ञानमनन्त-
 मिति । एतत्तदुच्यते—ब्रह्मणा
 सहेति ।

ब्रह्मभूतो विद्वान्ब्रह्मस्वरूपे-
 णैव सर्वान्कामान्सहाश्नुते, न
 यथोपाधिकृतेन स्वरूपेणात्मना
 जलसूर्यकादिवत्प्रतिविम्बभूतेन
 सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापे-
 क्षांश्चक्षुरादिकरणापेक्षांश्च कामान्
 पर्यायेणाश्नुते लोकः; कथं तर्हि ?
 यथोक्तेन प्रकारेण सर्वज्ञेन सर्व-

वह इस प्रकार ब्रह्मको जानने-
 वाला क्या करता है ? इसपर श्रुति
 कहती है—वह सम्पूर्ण अर्थात् निः-
 शेष कामनाओं यानी इच्छित भोगों-
 को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन्हें
 भोगता है । तो क्या वह हमारे-
 तुम्हारे समान पुत्र एवं स्वर्गादि
 भोगोंको क्रमसे भोगता है ? इसपर
 श्रुति कहती है—नहीं, उन्हें एक
 साथ भोगता है । वह एक ही क्षणमें
 बुद्धिवृत्तिपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण
 भोगोंको सूर्यके प्रकाशके समान
 नित्य तथा ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न एक
 ही उपलब्धि के द्वारा, जिसका हमने
 ‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’ ऐसा निरूपण
 किया है, भोगता है । ‘ब्रह्मणा
 सह सर्वान्कामान्सहोते’ इस वाक्यसे
 यही अर्थ कहा गया है ।

ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मस्वरूपसे
 ही एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त
 कर लेता है । अर्थात् दूसरे लोग
 जिस प्रकार जलमें प्रतिविम्बित
 सूर्यके समान अपने औपाधिक और
 संसारी आत्माके द्वारा धर्मादि
 निमित्तकी अपेक्षावाले तथा चक्षु
 आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षासे युक्त
 सम्पूर्ण भोगोंको क्रमशः भोगते हैं,
 उस प्रकार उन्हें नहीं भोगता । तो
 फिर कैसे भोगता है ? वह उपर्युक्त-

गतेन सर्वात्मना नित्यब्रह्मात्म-
स्वरूपेण धर्मादिनिमित्तानपेक्षां-
श्चक्षुरादिकरणनिरपेक्षांश्च सर्वा-
न्कामान्सहैवाश्नुत इत्यर्थः ।
विपश्चिता मेधाविना सर्वज्ञेन ।
तद्वि वैपश्चित्यं यत्सर्वज्ञत्वं तेन
सर्वज्ञस्वरूपेण ब्रह्मणाश्नुत इति ।
इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ।

सर्व एव बल्लवर्थो ब्रह्मविदा-
प्नोति परमिति ब्राह्मणवाक्येन
सूत्रितः । स च सूत्रितोऽर्थः
संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः ।
पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः
कर्तव्य इत्युत्तरस्तद्वृत्तिस्थानीयो
ग्रन्थ आरभ्यते तस्माद्वा एतस्मा-
दित्यादिः ।

तत्र च सत्यं ज्ञानमनन्तं
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्युक्तं मन्त्रादौ
ब्रह्मेति मीमांस्यते तत्कथं सत्यं ज्ञान-
मनन्तं चेत्यत आह । तत्र
त्रिविधं ज्ञानन्त्यं देशतः कालतो
वस्तुतश्चेति । तद्यथा देशतो-
ऽनन्त आकाशः । न हि देशतस्तस्य

प्रकारसे सर्वत सर्वगत सर्वात्मक
एवं नित्यब्रह्मात्मस्वरूपसे, धर्मादि
निमित्तकी अपेक्षासे रहित तथा
चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी निरपेक्ष
सम्पूर्ण भोगोंको एक साथ ही प्राप्त
कर लेता है—यह इसका तात्पर्य
है । विपश्चित्—मेधावी अर्थात् सर्वज्ञ
ब्रह्मरूपसे । ब्रह्मका जो सर्वज्ञत्व है
वही उसकी विपश्चिता (विद्वत्ता) है ।
उस सर्वज्ञस्वरूप ब्रह्मरूपसे ही वह
उन्हें भोगता है । मूलमें 'इति' शब्द
मन्त्रकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ब्राह्मण-
वाक्यद्वारा इस सम्पूर्ण वल्लीका अर्थ
सूत्ररूपसे कह दिया है । उस
सूत्रभूत अर्थकी ही मन्त्रद्वारा संक्षेप-
से व्याख्या कर दी गयी है । अब
फिर उसीका अर्थ विस्तारसे निर्णय
करना है—इसीलिये उसका वृत्तिरूप
'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि आगेका
ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

उस मन्त्रमें सबसे पहले 'सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ऐसा कहा है । वह
सत्य, ज्ञान और अनन्त किस प्रकार
है ? सो बतलाते हैं—अनन्तता
तीन प्रकारकी है—देशसे, कालसे
और वस्तुसे । उनमें जैसे आकाश
देशतः अनन्त है । उसका देशसे

परिच्छेदोऽस्ति । न तु काल-
तश्चानन्त्यं वस्तुतश्चाकाशस्य ।
कस्मात्कार्यत्वात् । नैवं ब्रह्मण
आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वम-
कार्यत्वात् । कार्यं हि वस्तु
कालेन परिच्छिद्यते । अकार्यं
च ब्रह्म । तस्मात्कालतोऽस्या-
नन्त्यम् ।

तथा वस्तुतः । कथं पुनर्वस्तुत
आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात् । भिन्नं हि
वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति,
चस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद्वस्त्व-
न्तरान्निवर्तते । यतो यस्य बुद्धे-
र्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः । तद्यथा
गोत्वबुद्धिरश्वत्वाद्धिनिवर्तत इति
अश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव
भवति । स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु
दृष्टः । नैवं ब्रह्मणो भेदः । अतो
वस्तुतोऽप्यानन्त्यम् ।

परिच्छेद नहीं है । किन्तु कालसे
और वस्तुसे आकाशकी अनन्तता
नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि वह
कार्य है । किन्तु आकाशके समान
किसीका कार्य न होनेके कारण
ब्रह्मका इस प्रकार कालसे भी
अन्तवत्त्व नहीं है । जो वस्तु किसी-
का कार्य होती है वही कालसे
परिच्छिन्न होती है । और ब्रह्म
किसीका कार्य नहीं है, इसलिये
उसकी कालसे अनन्तता है ।

इसी प्रकार वह वस्तुसे भी
अनन्त है । वस्तुसे उसकी अनन्तता
किस प्रकार है ? क्योंकि वह सबसे
अभिन्न है । भिन्न वस्तु ही किसी
अन्य भिन्न वस्तुका अन्त हुआ
करती है, क्योंकि किसी भिन्न वस्तुमें
गयी हुई बुद्धि ही किसी अन्य प्रसक्त
वस्तुसे निवृत्त की जाती है । जिस
[पदार्थसम्बन्धिनी] बुद्धिकी जिस
पदार्थसे निवृत्ति होती है वही उस
पदार्थका अन्त है । जिस प्रकार
गोत्वबुद्धि अश्वत्वबुद्धिसे निवृत्त होती
है, अतः गोत्वका अन्त अश्वत्व हुआ,
इसलिये वह अन्तवान् ही है और
उसका वह अन्त भिन्न पदार्थोंमें ही
देखा जाता है । किन्तु ब्रह्मका ऐसा
कोई भेद नहीं है । अतः वस्तुसे
भी उसकी अनन्तता है ।

कथं पुनः सर्वानन्यत्वं ब्रह्मण
 ब्रह्मणः सार्वान्यं इत्युच्यते—सर्व-
 नित्यते वस्तुकारणत्वात् ।
 सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशा-
 दीनां कारणं ब्रह्म । कार्यापेक्षया
 वस्तुतोऽन्तवत्त्वमिति चेन्न ;
 अनृतत्वात्कार्यवस्तुनः । न हि
 कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम
 वस्तुतोऽस्ति यतः कारणबुद्धि-
 र्विनिवर्तेत । “वाचारम्भणं वि-
 कारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव
 सत्यम्” (छा० उ० ६ । १ ।
 ४) एवं सदेव सत्यमिति श्रुत्य-
 न्तरात् ।

तस्मादाकाशादिकारणत्वाद्दे-
 शतस्तावदनन्तं ब्रह्म । आकाशो
 ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतः,
 तस्येदं कारणं तस्मात्प्रसिद्धं देशत
 आत्मन आनन्त्यम् । न ह्यसर्व-
 गतात्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके
 किञ्चिद्दृश्यते । अतो निरति-
 शयमात्मन आनन्त्यं देशतस्तथा-

किन्तु ब्रह्मक्री सत्रसे अभिन्नता
 किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—
 क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तुओंका
 कारण है—ब्रह्म काल-आकाश आदि
 सभी वस्तुओंका कारण है । यदि
 कहो कि अपने कार्यकी अपेक्षासे
 तो उसका वस्तुसे अन्तवत्त्व
 हो ही जायगा, तो ऐसा कहना
 ठीक नहीं; क्योंकि कार्यरूप वस्तु
 तो मिथ्या है—वस्तुतः कारणसे भिन्न
 कार्य है ही नहीं जिससे कि कारण-
 बुद्धिकी निवृत्ति हो “वाणीसे आरम्भ
 होनेवाला विकार केवल नाममात्र
 है, मृत्तिका ही सत्य है” इसी
 प्रकार “सत् ही सत्य है—ऐसा
 एक अन्य श्रुतिसे भी सिद्ध होता है ।

अतः आकाशादिका कारण
 होनेसे ब्रह्म देशसे भी अनन्त है ।
 आकाश देशतः अनन्त है—यह तो
 प्रसिद्ध ही है, और यह उसका
 कारण है; अतः आत्माका देशतः
 अनन्तत्व सिद्ध ही है, क्योंकि
 लोकमें असर्वगत वस्तुसे कोई सर्वगत
 वस्तु उत्पन्न होती नहीं देखी जाती ।
 इसलिये आत्माका देशतः अनन्तत्व
 निरतिशय है [अर्थात् उससे बड़ा
 और कोई नहीं है] । इसी प्रकार

स्कार्यत्वात्कालतः, तद्भिन्नवस्तु-
न्तराभावाच्च वस्तुतः । अत एव
निरतिशयसत्यत्वम् ।

तस्मादिति मूलवाक्यसूत्रितं

ब्रह्म परामृश्यते ।
नृदिक्कमः

एतस्मादिति मन्त्र-

वाक्येनानन्तरं यथालक्षितम् ।

यद्ब्रह्मादौ ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितं

यच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्य-

नन्तरमेव लक्षितं तस्मादेतस्मा-

द्ब्रह्मण आत्मन आत्म-

शब्दवाच्यात् । आत्मा हि

तत्सर्वस्य “तत्सत्यं स आत्मा”

(छा० उ० ६ । ८-१६) इति

श्रुत्यन्तरादतो ब्रह्मात्मा । तस्मा-

देतस्माद्ब्रह्मण आत्मस्वरूपादाका-

शः संभूतः समुत्पन्नः ।

आकाशो नाम शब्दगुणोऽव-

काशकरो मूर्तद्रव्याणाम् । तस्मात्

किसीका कार्य न होनेके कारण वह
कालतः और उससे भिन्न पदार्थका
सर्वथा अभाव होनेके कारण वस्तुतः
भी अनन्त है । इसलिये आत्माका
सबसे बढ़कर सत्यत्व है । *

[मन्त्रमें] ‘तस्मात्’ (उससे)
इस पदद्वारा मूलवाक्यमेंसे सूत्र-
रूपसे कहे हुए ‘ब्रह्म’ पदका
परामर्श किया जाता है । तथा इसके
अनन्तर ‘एतस्मात्’ इत्यादि मन्त्र-
वाक्यसे भी पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका ही
उल्लेख किया गया है । [तात्पर्य यह
है—] जिस ब्रह्मका पहले ब्राह्मण-
वाक्यद्वारा सूत्ररूपसे उल्लेख किया
गया है और जो उसके पश्चात्
‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इस प्रकार
लक्षित किया गया है उस इस ब्रह्म
—आत्मासे, अर्थात् ‘आत्मा’ शब्द-
वाच्य ब्रह्मसे—क्योंकि “तत् सत्यं स
आत्मा” इत्यादि एक अन्य श्रुतिके
अनुसार वह सबका आत्मा है; अतः
यहाँ ब्रह्म ही आत्मा है—उस इस
आत्मस्वरूप ब्रह्मसे आकाश संभूत—
उत्पन्न हुआ ।

जो शब्द गुणवाला और समस्त
मूर्त पदार्थोंको अवकाश देनेवाला है
उसे ‘आकाश’, कहते हैं । उस

* क्योंकि जो वस्तु अनन्त होती है वही सत्य होती है, परिच्छिन्न पदार्थ
कभी सत्य नहीं हो सकता ।

आकाशात्स्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेण
च कारणगुणेन शब्देन द्विगुणो
वायुः संभूत इत्यनुवर्तते ।
वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाभ्यां
च त्रिगुणोऽग्निः संभूतः । अग्नेः
स्वेन रसगुणेन पूर्वैश्च त्रिभिश्चतु-
र्गुणा आपः संभूताः । अद्भ्यः
स्वेन गन्धगुणेन पूर्वैश्चतुर्भिः
पञ्चगुणा पृथिवी संभूता । पृथि-
व्या ओषधयः । ओषधीभ्यो-
ऽन्नम् । अन्नाद्रेतोरूपेण परिणतात्
पुरुषः शिरःपाण्याद्याकृतिमान् ।

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयो-
ऽन्नरसविकारः । पुरुषाकृति-
भावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः
संभूतं रेतो बीजम् ; तस्माद्यो
जायते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव
स्यात् । सर्वजातिषु जायमानानां

आकाशसे अपने गुण 'स्पर्श' और
अपने पूर्ववर्ती आकाशके गुण
'शब्द' से युक्त दो गुणवाला वायु
उत्पन्न हुआ । यहाँ प्रथम वाक्यके
'संभूतः' (उत्पन्न हुआ) इस
क्रिया पदकी [सर्वत्र] अनुवृत्ति की
जाती है । वायुसे अपने गुण 'रूप'
और पहले दो गुणोंके सहित तीन
गुणवाला अग्नि उत्पन्न हुआ । तथा
अग्निसे अपने गुण 'रस' और
पहले तीन गुणोंके सहित चार
गुणवाला जल हुआ । और जलसे
अपने गुण 'गन्ध' और पहले चार
गुणोंके सहित पाँच गुणवाली पृथिवी
उत्पन्न हुई । पृथिवीसे ओषधियाँ,
ओषधियोंसे अन्न और वीर्यरूपमें
परिणत हुए अन्नसे शिर तथा हाथ-
पाँवरूप आकृतिवाला पुरुष उत्पन्न
हुआ ।

वह यह पुरुष अन्नरसमय अर्थात्
अन्न और रसका विकार है ।
पुरुषाकारसे भावित [अर्थात् पुरुष-
के आकारकी वासनासे युक्त] तथा
उसके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ
तेजोरूप जो शुक्र है वह उसका
बीज है । उससे जो उत्पन्न होता
है वह भी उसीके समान पुरुषाकार
ही होता है, क्योंकि सभी जातियोंमें
उत्पन्न होनेवाले देहोंमें पिताके

जनकाकृतिनियमदर्शनात् ।

सर्वेषामप्यन्नरसविकारत्वे ब्र-
ह्मवैश्वत्वे चाविशिष्टे कस्मात्पुरुष
एव गृह्यते ?

प्राधान्यात् ।

किं पुनः प्राधान्यम् ।

कर्मज्ञानाधिकारः । पुरुष एव

कथं पुरुषस्य हि शक्तत्वाद-
प्राधान्यं चित्त्वादप्युदस्त-

त्वाच्च कर्मज्ञानयोरधिक्रियते-

“पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स

हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं

वदति विज्ञातं पश्यति वेद

श्चस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्ये-

नामृतमीक्षतीत्येवं संपन्नः ।

अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे

एवाभिविज्ञानम् ।” इत्यादि-

श्रुत्यन्तरदर्शनात् ।

समान आकृति होनेका नियम देखा
जाता है ।

शंका—सृष्टिमें सभी शरीर समान
रूपसे अन्न और रसके विकार
तथा ब्रह्माके वंशमें उत्पन्न हुए हैं;
फिर यहाँ पुरुषको ही क्यों ग्रहण
किया गया है ?

समाधान—प्रधानताके कारण ।

शंका—उसकी प्रधानता क्या है ?

समाधान—कर्म और ज्ञानका
अधिकार ही उसकी प्रधानता है ।
[कर्म और ज्ञानके साधनमें]
समर्थ, [उनके फलकी] इच्छावाला
और उससे उदासीन न होनेके
कारण पुरुष ही कर्म और ज्ञानका
अधिकारी है । “पुरुषमें ही आत्माका
पूर्णतया आविर्भाव हुआ है; वही
प्रकृष्ट ज्ञानसे सबसे अधिक सम्पन्न
है । वह जानी-बूझी बात कहता है,
जाने-बूझे पदार्थोंको देखता है, वह
कल होनेवाली बात भी जान सकता
है, उसे उत्तम और अधम लोकोंका
ज्ञान है तथा वह कर्म-ज्ञानरूप
नश्वर साधनके द्वारा अमर पदकी
इच्छा करता है—इस प्रकार वह
विवेकसम्पन्न है । उसके सिवा
अन्य पशुओंको तो केवल भूख-
प्यासका ही विशेष ज्ञान होता है”
ऐसी एक दूसरी श्रुति देखनेसे भी
[पुरुषकी प्रधानता सिद्ध होती है] ।

स हि पुरुष इह विद्ययान्तर-
 तमं ब्रह्म संक्रामयितुमिष्टः । तस्य
 च बाह्याकारविशेषेण्वात्मस्वा-
 त्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विशेषं
 कंचित्सहसान्तरतमप्रत्यगात्म-
 विषया निरालम्बना च कर्तु-
 मशक्येति दृष्टशरीरात्मसामान्य-
 कल्पनया शाखाचन्द्रनिदर्शन-
 वदन्तः प्रवेशयन्नाह—

तस्येदमेव शिरः । तस्यास्य

पक्ष्यात्मनात्र- पुरुषस्यान्नरसमय-
 मयस्य निरूपणम् तस्येदमेव शिरः

प्रसिद्धम् । प्राणमयादिष्वशिरसां

शिरस्त्वदर्शनादिहापि तत्प्रसङ्गो

मा भूदिति तदेव शिर इत्युच्यते ।

एवं पक्षादिषु योजना । अयं

उस पुरुषको ही यहाँ (इस
 बल्लीमें) विद्याके द्वारा सत्रकी अपेक्षा
 अन्तरतम ब्रह्मके पास ले जाना
 अभीष्ट है । किन्तु उसकी बुद्धि,
 जो बाह्याकार विशेषरूप अनात्म
 पदार्थोंमें आत्मभावना किये हुए है,
 किसी विशेष आलम्बनके बिना
 एकाएक सत्रसे अन्तरतम प्रत्य-
 गात्मसम्बन्धिनी तथा निरालम्बना
 की जानी असम्भव है; अतः इस
 दिखलाई देनेवाले शरीररूप आत्मा-
 की समानताकी कल्पनासे शाखा-
 चन्द्र दृष्टान्तके समान उसका
 भीतरकी ओर प्रवेश कराकर श्रुति
 कहती है—

उसका यह [शिर] ही शिर है ।

उस इस अन्नरसमय पुरुषका यह

प्रसिद्ध शिर ही [शिर है] ।

[अगले अनुवाकमें] प्राणमय आदि

शिररहित कोशोंमें भी शिरस्त्व देखा

जानेके कारण यहाँ भी वही बात

न समझी जाय [अर्थात् इस अन्नमय

कोशको भी वस्तुतः शिररहित न

समझा जाय] इसलिये 'यह प्रसिद्ध

शिर ही उसका शिर है'—ऐसा कहा

जाता है । इसी प्रकार पक्षादिवे

विषयमें लगा लेना चाहिये । पूर्वाभि-

दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य
दक्षिणः पक्षः । अयं सव्यो बाहु-
रुत्तरः पक्षः । अयं मध्यमो देह-
भाग आत्माङ्गानाम् । “मध्यं
ह्येषामङ्गानामात्मा” इति श्रुतेः ।
इदमिति नाभेरधस्ताद्यदङ्गं
तत्पुच्छं प्रतिष्ठा । प्रतितिष्ठत्यन-
येति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छम्
अधोलम्बनसामान्याद्यथा गोः
पुच्छम् ।

एतत्प्रकृत्योत्तरेपां प्राणमया-
दीनां रूपकत्वसिद्धिः; सूपानिषि-
क्तद्रुतताम्रप्रतिमावत् । तदप्येव
श्लोको भवति । तत्तस्मिन्नेवार्थे
ब्राह्मणोक्तेऽन्नमयात्मप्रकाशक
एव श्लोको मन्त्रो भवति ॥१॥

मुख व्यक्तिका यह दक्षिण [दक्षिण
दिशाकी ओरका] बाहु दक्षिण
पक्ष है, यह वाम बाहु उत्तर पक्ष
है तथा यह देहका मध्यभाग अङ्गों-
का आत्मा है; जैसा कि “मध्यभाग
ही इन अङ्गोंका आत्मा है” इस
श्रुतिसे प्रमाणित होता है । और
यह जो नाभिसे नीचेका अङ्ग है
वही पुच्छ—प्रतिष्ठा है । इसके
द्वारा वह स्थित होता है, इसलिये यह
उसकी प्रतिष्ठा है । नीचेकी ओर
लटकनेमें समानता होनेके कारण
वह पुच्छके समान पुच्छ है; जैसे
कि गौकी पूँछ ।

इस अन्नमय कोशसे आरम्भ
करके ही साँचेमें डाले हुए पिघले
ताँबेकी प्रतिमाके समान आगेके
प्राणमय आदि कोशोंके रूपकत्वकी
सिद्धि होती है । उसके विषयमें ही
यह श्लोक है; अर्थात् अन्नमय
आत्माको प्रकाशित करनेवाले उस
ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही यह श्लोक
अर्थात् मन्त्र है ॥ १ ॥



इति ब्रह्मानन्दवल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥



द्वितीय अनुवाक

अचक्षा महिमा तथा प्राणमय कोशका वर्णन

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीः-
श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि चन्त्य-
न्ततः । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वोपधमुच्यते ।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नं हि
भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वोपधमुच्यते । अन्नाद्भूतानि
जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽस्ति च भूतानि ।
तस्मादन्नं तदुच्यत इति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयाद-
न्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैव पूर्णः । स वा एव
पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः ।
तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान
उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा ।
तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

अन्नसे ही प्रजा उत्पन्न होती है । जो कुछ प्रजा पृथिवीको आश्रित
करके स्थित है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है; फिर वह अन्नसे ही
जीवित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है, क्योंकि अन्न
ही प्राणियोंका ज्येष्ठ (अग्रज—पहले उत्पन्न होनेवाला) है । इसीसे
वह सर्वोपध कहा जाता है । जो लोग 'अन्न ही ब्रह्म है' इस प्रकार
उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं । अन्न ही
प्राणियोंमें बड़ा है; इसलिये वह सर्वोपध कहलाता है । अन्नसे ही प्राणी
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं । अन्न

प्राणियोंद्वारा खाया जाता है और वह भी उन्हींको खाता है । इसीसे वह 'अन्न' कहा जाता है । उस इस अन्नरसमय पिण्डसे, उसके भीतर रहनेवाला दूसरा शरीर प्राणमय है । उसके द्वारा यह (अन्नमय कोश) परिपूर्ण है । वह यह (प्राणमय कोश) भी पुरुषाकार ही है । उस (अन्नमय कोश) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है । उसका प्राण ही शिर है । व्यान दक्षिण पक्ष है । अपान उत्तर पक्ष है । आकाश आत्मा (मध्यभाग) है और पृथिवी पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

अन्नाद्रसादिभावपरिणतात्,

अन्नमयोपासन- वा इति स्मरणार्थः,

फलम्

प्रजाः स्थावरजङ्ग-

माः प्रजायन्ते । याः काश्चा-

विशिष्टाः पृथिवीं श्रिताः पृथि-

वीमाश्रितास्ताः सर्वा अन्नादेव

प्रजायन्ते । अथो अपि जाता

अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धार-

यन्ति वर्धन्त इत्यर्थः । अथाप्ये-

वदन्नमपियन्त्यपिगच्छन्ति ।

अपिशब्दः प्रतिशब्दार्थे ।

अन्नं प्रति प्रलीयन्त इत्यर्थः ।

अन्ततोऽन्ते जीवनलक्षणाया

वृत्तेः परिसमाप्तौ ।

कस्मात् ? अन्नं हि यस्माद्

भूतानां प्राणिनां ज्येष्ठं प्रथमजम् ।

अन्नमयादीनां हीतरेषां भूतानां

रसादि रूपमें परिणत हुए अन्नसे ही स्थावर-जङ्गमरूप प्रजा उत्पन्न होती है । 'वै' यह निपात स्मरणके अर्थमें है । जो कुछ प्रजा अविशेष भावसे पृथिवीको आश्रित किये हुए है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है । और फिर उत्पन्न होनेपर वह अन्नसे ही जीवित रहती—प्राण धारण करती अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होती है । और अन्तमें—जीवनरूप वृत्तिकी समाप्ति होनेपर वह अन्नमें ही लीन हो जाती है । ['अपियन्ति' इसमें] 'अपि' शब्द 'प्रति' के अर्थमें है । अर्थात् वह अन्नके प्रति ही लीन हो जाती है ।

इसका कारण क्या है ? क्योंकि अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ यानी अग्रज है । अन्नमय आदि जो इतर प्राणी हैं उनका कारण अन्न ही है ।

कारणमन्नमतोऽन्नप्रभवा अन्न-
जीवना अन्नप्रलयाश्च सर्वाः प्रजाः ।
यस्याच्चैवं तस्मात्सर्वोपधं सर्व-
प्राणिनां देहदाहप्रशमनमन्न-
मुच्यते ।

अन्नब्रह्मविदः फलमुच्यते—
सर्वं वै ते समस्तमन्नजात-
माप्नुवन्ति । के ? येऽन्नं ब्रह्म
यथोक्तमुपासते । कथम् ? अन्नजो-
ऽन्नात्मान्नप्रलयोऽहं तस्मादन्नं
ब्रह्मेति ।

कुतः पुनः सर्वान्नप्राप्तिफल-
मन्नात्मोपासनमित्युच्यते । अन्नं
हि भूतानां ज्येष्ठम् । भूतेभ्यः
पूर्वं निष्पन्नत्वाज्ज्येष्ठं हि यस्या-
त्तस्मात्सर्वोपधमुच्यते । तस्मादुप-
पन्ना सर्वान्नात्मोपासकस्य सर्वा-
न्नप्राप्तिः । अन्नाद्भूतानि जायन्ते ।

इसलिये सम्पूर्ण प्रजा अन्नमे उत्पन्न
होनेवाली, अन्नके द्वारा जीवित
रहनेवाली और अन्नमें ही लीन हो
जानेवाली है । क्योंकि ऐसी बात
है, इसलिये अन्न सर्वोपध—सम्पूर्ण
प्राणियोंके देहके सन्तापको शान्त
करनेवाला कहा जाता है ।

अन्नरूप अन्नकी उपासना करने-
वालेका [प्राप्तिय] फल वतलाया
जाता है—वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न-
समूहको प्राप्त कर लेते हैं । कौन ?
जो उपर्युक्त अन्नकी ही अन्नरूपसे
उपासना करते हैं । किस प्रकार
[उपासना करते हैं] ? इस तरह कि
मैं अन्नसे उत्पन्न अन्नस्वरूप और
अन्नमें ही लीन हो जानेवाला हूँ;
इसलिये अन्न ब्रह्म है ।

‘अन्न ही आत्मा है’ इस प्रकारकी
उपासना किस प्रकार सम्पूर्ण अन्नकी
प्राप्तिरूप फलवाली है, सो बतलाते
हैं—अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ है—
प्राणियोंसे पहले उत्पन्न होनेके
कारण, क्योंकि वह उनसे ज्येष्ठ है
इसलिये वह सर्वोपध कहा जाता है ।
अतः सम्पूर्ण अन्नकी आत्मारूपसे
उपासना करनेवालेके लिये सम्पूर्ण
अन्नकी प्राप्ति उचित ही है । अन्नसे
प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न

जातान्यन्नेन वर्धन्त इत्युपसं-
हार्य पुनर्वचनम् ।

इदानीमन्ननिर्वचनमुच्यते—

अन्नशब्द- अद्यते भुज्यते चैव
निर्वचनम् यद्भूतैरन्नमत्ति, च

भूतानि स्वयं तस्माद्भूतैर्भु-
ज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं
तदुच्यते । इतिशब्दः प्रथमकोश-
परिसमाप्त्यर्थः ।

अन्नमयादिभ्य आनन्दमया-

अन्नमयकोश- न्तेभ्य आत्मभ्यो-
निरासः ऽभ्यन्तरतमं ब्रह्म

विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्श-
यिषुः शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशा-
पनयनेनानेकतुपकोद्रववितुषी-
करणेनेव तदन्तर्गततण्डुलान्
ग्रस्तौति तस्माद्वा एतस्मादन्नरस-
मयादित्यादि ।

तस्मादेतस्माद्यथोक्तादन्नरस-

प्राणमयकोश- मयात्पिण्डादन्यो
निर्वचनम् व्यतिरिक्तोऽन्तरो-

ऽभ्यन्तर आत्मा पिण्डवदेव मिथ्या

होनेपर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते
हैं—यह पुनरुक्ति उपासनाके उप-
संहारके लिये है ।

अब 'अन्न' शब्दकी व्युत्पत्ति
कही जाती है—जो प्राणियोंद्वारा
'अद्यते'—खाया जाता है और जो
स्वयं भी प्राणियोंको 'अत्ति' खाता
है, इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंका भोज्य
और उनका भोक्ता होनेके कारण
भी वह 'अन्न' कहा जाता है ।
इस वाक्यमें 'इति' शब्द प्रथम
कोशके विवरणकी परिसमाप्तिके
लिये है ।

अनेक तुपाओंवाले धानोंको
तुपरहित करके जिस प्रकार चावल
निकाल लिये जाते हैं उसी प्रकार
अन्नमयसे लेकर आनन्दमय कोश-
पर्यन्त सम्पूर्ण शरीरोंकी अपेक्षा
आन्तरतम ब्रह्मको विद्याके द्वारा अपने
प्रत्यगात्मरूपसे दिखलानेकी इच्छा-
वाला शास्त्र अविद्याकल्पित पाँच
कोशोंका बाध करता हुआ 'तस्माद्वा
एतस्मादन्नरसमयात्' इत्यादि वाक्य-
से आरम्भ करता है—

उस इस पूर्वोक्त अन्नरसमय
पिण्डसे अन्य यानी पृथक् और
उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो
अन्नरसमय पिण्डके समान मिथ्या
ही आत्मारूपसे कल्पना किया हुआ

परिकल्पित आत्मत्वेन प्राणमयः
प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्रायः । तेन
प्राणमयेनाक्षरसमय आत्मैव पूर्णो
वायुर्नेव द्यतिः । स वा एव प्राण-
मय आत्मा पुरुषविध एव पुरुषा-
कार एव, शिरःपक्षादिभिः ।

किं खत एव, नेत्याह ।

प्राणमयस्य प्रसिद्धं तावदक्षरस-
पुरुषविधत्वन् मयस्यात्मनः पुरुष-
विधत्वम् । तस्याक्षरसमयस्य पुरुष-
विधतां पुरुषाकारतामनु अयं
प्राणमयः पुरुषविधो मूपानिषिक्त-
प्रतिमावन्न खत एव । एवं पूर्वस्य
पूर्वस्य पुरुषविधतामनूत्तरोत्तरः
पुरुषविधो भवति पूर्वः पूर्व-
ओत्तरोत्तरेण पूर्णः ।

कथं पुनः पुरुषविधतास्य
इत्युच्यते । तस्य प्राणमयस्य प्राण
एव शिरः । प्राणमयस्य वायु-
विकारस्य प्राणो मुखनासिका-
निःसरणो वृत्तिविशेषः शिर एव

है. प्राणमय है । प्राण—वायु उससे
युक्त अर्थात् तत्प्राय [यानी उसमें
प्राणकी ही प्रधानता है] । जिस
प्रकार वायुसे धोंकनी भरी रहती है
उसी प्रकार उस प्राणमयसे वह
अक्षरसमय शरीर भरा हुआ है ।
वह वह प्राणमय आत्मा पुरुषविध
अर्थात् शिर और पक्षादिके कारण
पुरुषाकार ही है ।

क्या वह खतः ही पुरुषाकार
है ? इसपर कहते हैं—‘नहीं,
अक्षरसमय शरीरकी पुरुषाकारता तो
प्रसिद्ध ही है; उस अक्षरसमय-
की पुरुषविधता—पुरुषाकारताके
अनुसार सोंचेमें ढली हुई प्रतिमाके
समान वह प्राणमय कोश भी
पुरुषाकार है—खतः ही पुरुषाकार
नहीं है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी
पुरुषाकारता है और उसके अनुसार
पीछे-पीछेका कोश भी पुरुषाकार है;
तथा पूर्व-पूर्व कोश पीछे-पीछेके
कोशसे पूर्ण (भरा हुआ) है ।

इसकी पुरुषाकारता किस प्रकार
है ? सो बतलायी जाती है—उस
प्राणमयका प्राण ही शिर है ।
वायुके विकाररूप प्राणमय कोशका
मुख और नासिकासे निकलनेवाला
प्राण, जो मुख्य प्राणकी वृत्तिविशेष
है, श्रुतिके वचनानुसार शिररूपसे ही

परिकल्प्यते वचनात् । सर्वत्र
वचनादेव पक्षादिकल्पना ।
व्यानो व्यानवृत्तिर्दक्षिणः पक्षः ।
अपान उत्तरः पक्षः । आकाश
आत्मा । य आकाशस्थो वृत्ति-
विशेषः समानाख्यः स आत्मेवा-
त्मा; प्राणवृत्त्यधिकारात् ।
मध्यस्थत्वादितराः पर्यन्ता वृत्ती-
रपेक्ष्यात्मा । “मध्यं ह्येषामङ्गा-
नामात्मा” इति श्रुतिप्रसिद्धं
मध्यमस्थस्यात्मत्वम् ।

पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा ।
पृथिवीति पृथिवीदेवताध्यात्मि-
कस्य प्राणस्य धारयित्री स्थिति-
हेतुत्वात् । “सैषा पुरुषस्यापान-
मवष्टभ्य” (बृ० उ० ३ । ८) इति हि
श्रुत्यन्तरम् । अन्यथोदानवृत्त्यो-
र्ध्वगमनं गुरुत्वाच्च पतनं वा
स्याच्छरीरस्य । तस्मात्पृथिवी देवता
पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमयस्यात्मनः ।
तत्तस्मिन्नेवार्थे प्राणमयात्मविषय
एष श्लोको भवति ॥१॥

कल्पना किया जाता है । इसके
सिवा आगे भी श्रुतिके वचनानुसार
ही पक्ष आदिकी कल्पना की गयी
है । व्यान अर्थात् व्यान नामकी
वृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर
पक्ष है, आकाश आत्मा है । यहाँ
प्राण-वृत्तिका अधिकार होनेके कारण
[‘आकाश’ शब्दसे] आकाशमें
स्थित जो समानसंज्ञक प्राणकी
वृत्ति है वही आत्मा है । अपने
आसपासकी अन्य सब वृत्तियोंकी
अपेक्षा मध्यवर्तिनी होनेके कारण
वह आत्मा है । “इन अंगोंका मध्य
आत्मा है” इस श्रुतिसे मध्यवर्ती अंग-
का आत्मत्व प्रसिद्ध ही है ।

पृथिवी पुच्छ-प्रतिष्ठा है । ‘पृथिवी’
इस शब्दसे पृथिवीकी अधिष्ठात्री
देवी समझनी चाहिये, क्योंकि
स्थितिकी हेतुभूत होनेसे वही
आध्यात्मिक प्राणको भी धारण
करनेवाली है । इस विषयमें “वह
पृथिवी-देवता पुरुषके अपानको
आश्रय करके” इत्यादि एक दूसरी
श्रुति भी है । अन्यथा प्राणकी
उदानवृत्तिसे या तो शरीर ऊपरको
उड़ जाता अथवा गुरुत्वावश गिर
पड़ता । अतः पृथिवी-देवता ही
प्राणमय शरीरकी पुच्छ-प्रतिष्ठा है ।
उसी अर्थमें अर्थात् प्राणमय आत्माके
विषयमें ही यह श्लोक प्रसिद्ध है ॥१॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणकी महिमा और मनोमय कोशका वर्णन

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । अनुष्याः पशवश्च ये ।
प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव
त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूता-
नामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव
शरीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयाद-
न्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा
एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुष-
विधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः
पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा ।
तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

देवगण प्राणके अनुगामी होकर प्राणन-क्रिया करते हैं तथा जो
मनुष्य और पशु आदि हैं [वे भी प्राणन-क्रियासे ही चेष्टावान् होते हैं] ।
प्राण ही प्राणियोंकी आयु (जीवन) है । इसीलिये वह 'सर्वायुष'
कहलाता है । जो प्राणको ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं वे पूर्ण आयुको
प्राप्त होते हैं । प्राण ही प्राणियोंकी आयु है । इसलिये वह 'सर्वायुष'
कहलाता है । उस पूर्वोक्त (अन्नमय कोश) का यही देहस्थित आत्मा
है । उस इस प्राणमय कोशसे दूसरा इसके भीतर रहनेवाला आत्मा
मनोमय है । उसके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह [मनोमय कोश] भी
पुरुषाकार ही है । उस (प्राणमय कोश) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह
भी पुरुषाकार है । यज्ञः ही उसका शिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है,

साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस पुच्छ—
प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥१॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति ।

प्राणस्य देवा अग्न्यादयः
प्राधान्यम् प्राणं व्यात्मात्मानं

प्राणनशक्तिमन्तमनु तदात्म-
भूताः सन्तः प्राणन्ति प्राणन-
कर्म कुर्वन्ति प्राणनक्रियया
क्रियावन्तो भवन्ति । अध्यात्मा-
धिकाराद्देवा इन्द्रियाणि प्राणमनु
प्राणन्ति मुख्यप्राणमनु चेष्टन्त
इति वा । तथा मनुष्याः पशवश्च
ये ते प्राणनकर्मणैव चेष्टावन्तो
भवन्ति ।

अतश्च नान्नमयेनैव परिच्छि-
न्नेनात्मनात्मवन्तः प्राणिनः ।
किं तर्हि ? तदन्तर्गतेन प्राणमये-
नापि साधारणेनैव सर्वपिण्ड-
व्यापिनात्मवन्तो मनुष्यादयः ।
एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्या-
पिभिरुत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैरानन्दम-
यान्तैराकाशादिभूतारब्धैरविद्या-
कृतैरात्मवन्तः सर्वे प्राणिनः ।
तथा स्वाभाविकेनाप्याकाशादि-

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति—अग्नि
आदि देवगण प्राणनशक्तिमान् वायु-
रूप प्राणके अनुगामी होकर अर्थात्
तद्रूप होकर प्राणन-क्रिया करते
हैं; यानी प्राणन-क्रियासे क्रियावान्
होते हैं । अथवा यहाँ अध्यात्म-
सम्बन्धी प्रकरण होनेसे [यह
समझना चाहिये कि] देव अर्थात्
इन्द्रियाँ प्राणके पीछे प्राणन करतीं
यानी, मुख्य प्राणकी अनुगामिनी
होकर चेष्टा करती हैं । तथा जो
भी मनुष्य और पशु आदि हैं वे भी
प्राणन-क्रियासे ही चेष्टावान् होते हैं ।

इससे जाना जाता है कि प्राणी
केवल परिच्छिन्नरूप अन्नमय कोशसे
ही आत्मवान् नहीं हैं । तो क्या
है ? वे मनुष्यादि जीव उसके
अन्तर्बर्ती सम्पूर्ण पिण्डमें व्याप्त
साधारण प्राणमय कोशसे भी
आत्मवान् हैं । इस प्रकार पूर्व-पूर्व
कोशमें व्यापक मनोमयसे लेकर
आनन्दमय कोशपर्यन्त, आकाशादि
भूतोंसे होनेवाले अविद्याकृत कोशों-
से सम्पूर्ण प्राणी आत्मवान् हैं ।
इसी प्रकार वे स्वभावसे ही

कारणेन नित्येनाविकृतेन सर्व-
गतेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणेन
पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मनात्म-
वन्तः । स हि परमार्थत आत्मा
सर्वेपामित्येतदप्यर्थादुक्तं भवति ।

प्राणं देवा अन्तु प्राणन्तीत्युक्तं
तत्कस्मादित्याह । प्राणां हि
यस्माद्धूतानां प्राणिनामायुर्जीव-
नम् । “यावद्वयस्मिञ्शरीरे प्राणो
वसति तावदायुः” (कौ० उ०
३ । २) इति श्रुत्यन्तरात् ।
तस्मात्सर्वायुषम् । सर्वेपामायुः
सर्वायुः सर्वायुरेव सर्वायुषमित्यु-
च्यते । प्राणापणमे मरणप्रसिद्धेः ।
प्रसिद्धं हि लोके सर्वायुष्यं
प्राणस्य ।

अतोऽस्माद्वाह्यादसाधारणाद-
प्राणोपासन-
फलम्
अमयादात्मनोऽप-
क्रम्यान्तः साधा-
रणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्मोपासते
येऽहमस्मि प्राणः सर्वभूताना-

आकाशादिके कारण, नित्य,
निर्विकार, सर्वगत, सत्य ज्ञान एवं
अनन्तरूप, पञ्चकोशातीत सर्वात्माने
भी आत्मवान् हैं । वही परमार्थतः
सबका आत्मा है—यह बात भी
इस वाक्यके तात्पर्यसे कह ही दी
गयी है ।

देवगण प्राणके पीछे प्राणन-
क्रिया करते हैं—ऐसा पहले कहा
गया । ऐसा क्यों है ? सो बतलाते
हैं—क्योंकि प्राण ही प्राणियोंका
आयु—जीवन है । “जबतक इस
शरीरमें प्राण रहता है तभीतक
आयु है” इस एक अन्य श्रुतिसे भी
यही सिद्ध होता है । इसीलिये वह
‘सर्वायुष’ है । सबकी आयुका नाम
‘सर्वायु’ है, ‘सर्वायु’ ही ‘सर्वायुष’
कहा जाता है, क्योंकि प्राण-प्रयाण-
के अनन्तर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध
ही है । प्राणका सर्वायु होना तो
लोकमें प्रसिद्ध ही है ।

अतः जो लोग इस ब्राह्म
असाधारण (व्यावृत्तरूप) अन्नमय
कोशसे आत्मबुद्धिको हटाकर इसके
अन्तर्बर्ती और साधारण [सम्पूर्ण
इन्द्रियोंमें अनुगत] प्राणमय कोश-
को ‘मैं प्राण सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा

मात्मायुर्जीवनहेतुत्वादिति ते
सर्वमेवायुरस्मिँल्लोके यन्ति; नाप-
मृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुष
इत्यर्थः । शतं वर्षाणीति तु युक्तं
“सर्वमायुरेति” (छा० उ० २ ।
११-२०, ४ । ११-१३) इति
श्रुतिप्रसिद्धेः ।

किं कारणं प्राणो हि भूता-
नामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति ।
यो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्ते स तद्-
गुणभाग्भवतीति विद्याफलप्राप्ते-
हेत्वर्थं पुनर्वचनं प्राणो हीत्यादि ।

तस्य पूर्वस्यान्नमयस्यैव एव
शरीरेऽन्नमये भवः शरीर

— आत्मा । कः ? य एव प्राणमयः ।

तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थ-
मनोमयकोश- मन्यत् । अन्यो-
निर्वचनम् अन्तर आत्मा मनो-
मयः । मन इति संकल्पाद्यात्म-
कमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयो

और उनके जीवनका कारण होनेसे
उनकी आयु हैं’ इस प्रकार ब्रह्मरूपसे
उपासना करते हैं वे इस लोकमें
पूर्ण आयुको प्राप्त होते हैं । अर्थात्
प्रारब्धवश प्राप्त हुई आयुसे पूर्व
अपमृत्युसे नहीं मरते । “पूर्ण आयु-
को प्राप्त होता है” ऐसी श्रुति-प्रसिद्धि
हानेके कारण यहाँ [‘सर्वायु’
शब्दसे] सौ वर्ष समझने चाहिये ।

[प्राणको सर्वायु समझनेका]
क्या कारण है ? क्योंकि प्राण ही
प्राणियोंकी आयु हैं इसलिये वह
‘सर्वायुष’ कहा जाता है । जो
व्यक्ति जैसे गुणवाले ब्रह्मकी उपासना
करता है वह उसी प्रकारके गुणका
भागी होता है—इस प्रकार विद्याके
फलकी प्राप्तिके इस हेतुको प्रदर्शित
करनेके लिये ‘प्राणो हि भूताना-
मायुः’ इत्यादि वाक्यकी पुनरुक्ति की
गयी है । यही उस पूर्वकथित
अन्नमय कोशका शरीर—अन्नमय
शरीरमें रहनेवाला आत्मा है । कौन ?
जो कि यह प्राणमय है ।

‘तस्माद्वा एतस्मात्’ इत्यादि शेष
पदोंका अर्थ पहले कह चुके हैं ।
दूसरा अन्तर-आत्मा मनोमय है ।
संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणका
नाम मन है; जो तद्रूप हो उसे
मनोमय कहते हैं; जैसे [अन्नरूप

यथान्नमयः । सोऽयं प्राणमय-
स्याभ्यन्तर आत्मा । तस्य यजु-
रेव शिरः । यजुरित्यनियताक्षर-
पादावसानो मन्त्रविशेषस्तज्जा-
तीयवचनो यजुःशब्दस्तस्य
शिरस्त्वं प्राधान्यात् । प्राधान्यं च
यागादौ संनिपत्योपकारकत्वात् ।
यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाका-
रादिना ।

वाचनिकी वा शिरआदि-
कल्पना सर्वत्र । मनसो हि
स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्य-
विषया तत्संकल्पात्मिका
तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरण-
द्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुः

होनेके कारण] अन्नमय कहा गया
है । वह इस प्राणमयका अन्तर्बर्ती
आत्मा है । उसका यजुः ही शिर
है । जिनमें अक्षरोंका कोई नियम
नहीं है ऐसे पादोंमें समाप्त होनेवाले
मन्त्रविशेषका नाम यजुः है । उस
जातिके मन्त्रोंका वाचक 'यजुः'
शब्द है । उसे प्रधानताके कारण
शिर कहा गया है । यागादिमें
संनिपत्य उपकारक* होनेके कारण
यजुः-मन्त्रोंकी प्रधानता है, क्योंकि
स्वाहा आदिके द्वारा यजुर्मन्त्रोंसे ही
हवि दी जाती है ।

अथवा इन सब प्रसंगोंमें शिर
आदिकी कल्पना श्रुतिवाक्यसे ही
संगतनी चाहिये । अक्षरोंके
[उच्चारणके]स्थान,[आन्तरिक]प्रयत्न,
[उससे उत्पन्न हुआ]नाद,[उदात्तादि]
स्वर,[अकारादि]वर्ण,[उनसे रचे हुए]
पद और [पदोंके समूहरूप] वाक्यसे
सम्बन्ध रखनेवाली तथा उन्हींके
संकल्प और भावसे युक्त जो श्रवणादि
इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाली
'यजुः' संकेतविशिष्ट मनकी वृत्ति है

* यशांग दो प्रकारके होते हैं—एक संनिपत्य उपकारक और दूसरे
आरात् उपकारक । उनमें जो अङ्ग साक्षात् अथवा परम्परासे प्रधान यागके
कलेषरकी पूर्ति कर उसके द्वारा अपूर्वकी उत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं वे संनिपत्य
उपकारक कहलाते हैं । यजुर्मन्त्र भी यागशरीरको निष्पन्न करनेवाले होनेसे
संनिपत्य उपकारक हैं ।

इत्युच्यते । एवमृगेवं साम
च ।

एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणां
वृत्तिरेवावर्त्यत इति मानसो जप
उपपद्यते । अन्यथाविषयत्वान्म-
न्त्रो नावर्तयितुं शक्यो घटादि-
वदिति मानसो जपो नोपपद्यते ।
मन्त्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशः
कर्मसु ।

वही 'यजुः' कही जाती है । इसी
प्रकार 'ऋक्' और ऐसे ही 'साम'
को भी समझना चाहिये ।*

इस प्रकार मन्त्रोंके मनोवृत्तिरूप
होनेपर ही उस वृत्तिका आवर्तन
करनेसे उनका मानसिक जप किया
जाना ठीक हो सकता है । अन्यथा
घटादिके समान मनके विषय न
होनेके कारण तो मन्त्रोंकी आवृत्ति
भी नहीं की जा सकती थी और
उस अवस्थामें मानसिक जप होना
सम्भव ही नहीं था । किन्तु मन्त्रोंकी
आवृत्तिका तो बहुत-से कर्मोंमें विधान
किया ही गया है [इससे उसकी
असम्भावना तो सिद्ध हो नहीं
सकती] ।

* 'यजुः' आदि शब्दोंसे यजुर्वेद आदि ही समझे जाते हैं । परन्तु यहाँ
जो उन्हें मनोमय कोशके शिर आदि रूपसे बतलाया गया है उसमें यह शंका
होती है कि उनका उससे ऐसा क्या सम्बन्ध है जो वे उसके अङ्गरूपसे बतलाये
गये हैं ? इस वाक्यमें भगवान् भाष्यकारने उसी बातको स्पष्ट किया है । इसका
सात्पर्य यह है कि यजुः, साम अथवा ऋक् आदि मन्त्रोंके उच्चारणमें सबसे पहले
अन्यान्य शब्दोंके उच्चारणके समान मनका ही व्यापार होता है । पहले कण्ठ
अथवा तालु आदि स्थानोंसे जठराग्निद्वारा प्रेरित वायुका आघात होता है, उससे
प्रस्फुट नादकी उत्पत्ति होती है; फिर क्रमशः स्वर और अकारादि वर्ण अभि-
व्यक्त होते हैं । वर्णोंके संयोगसे पद और पदसमूहसे वाक्यकी रचना होती है ।
इस प्रकार मानसिक सङ्कल्प और भावसे ही यजुः आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर
गोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं । अतः मनोवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले होनेके
गरण ही यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्तिको 'यजुः', ऋग्विषयक वृत्तिको 'ऋक्'
और सामविषयक वृत्तिको 'साम' कहा गया है; तथा इस प्रकारकी यजुःवृत्ति
में मनोमय कोशकी शीर्षस्थानीय है ।

अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या
मन्त्रावृत्तिः स्यादिति चेत् ।

नः मुख्यार्थासंभवात् । “त्रिः
प्रथमामन्वाह विरुत्तमाम्” इति
ऋगावृत्तिः श्रूयते । तत्र चो-
ऽविषयत्वे तद्विषयस्मृत्यावृत्त्या
मन्त्रावृत्तौ च क्रियमाणायाम्
“त्रिः प्रथमामन्वाह” इति ऋगा-
वृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चोदितः परित्यक्तः
स्यात् । तस्मान्नमनोवृत्त्युपाधि-
परिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्म-
चैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्द-
वाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्रा इति ।
एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्वेदानाम् ।
अन्यथा विषयत्वे रूपादि-
वदानित्यत्वं च स्यान्नैतद्यु-
क्तम् । “सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति

शंका—मन्त्रके अक्षरोंको विषय
करनेवाली स्मृतिकी आवृत्ति होनेसे
मन्त्रकी भी आवृत्ति हो सकती है—
यदि ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं; क्योंकि [ऐसा
माननेसे उपका विधान करनेवाली
श्रुतिका] मुख्य अर्थ असम्भव हो
जायगा । “तीन बार प्रथम ऋक्की
आवृत्ति करनी चाहिये और तीन
बार अन्तिम ऋक्का अन्वाख्यान
(आवर्तन) करे” इस प्रकार ऋक्की
आवृत्तिके विषयमें श्रुतिकी आज्ञा है ।
ऐसी अवस्थामें मन्त्रमय ऋक् तो
मन्त्रका विषय नहीं है, अतः मन्त्रकी
आवृत्तिके स्थानमें यदि केवल उसकी
स्मृतिका ही आवर्तन किया जाय
तो “तीन बार प्रथम ऋक्की
आवृत्ति करनी चाहिये” इस श्रुतिका
मुख्य अर्थ छूट जाता है । अतः यह
समझना चाहिये कि मनोवृत्तिरूप
उपाधिसे परिच्छिन्न मनोवृत्तिस्थित
जो अनादि-अनन्त आत्मचैतन्य
‘यजुः’ शब्दवाच्य आत्मविज्ञान है-
वह यजुर्मन्त्र हैं । इसी प्रकार
वेदोंकी नित्यता भी सिद्ध हो सकती
है; नहीं तो इन्द्रियोंके विषय होने-
पर तो रूपादिके समान उनकी भी
अनित्यता ही सिद्ध होगी; और ऐसा
होना ठीक नहीं है । “जिसमें समस्त

‘स मानसीन आत्मा’ इति च
श्रुतिर्नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवत्यृगा-
दीनां नित्यत्वे समञ्जसा स्यात् ।
“ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्य-
सिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः”
(ऋ० उ० ४ । ८) इति च
मन्त्रवर्णः ।

आदेशोऽत्र ब्राह्मणम्; अति-
देष्टव्यविशेषानतिदिशतीति । अथ-
र्वाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा ब्राह्मणं
च शान्तिकपौष्टिकादिप्रतिष्ठा-
हेतुकर्मप्रधानत्वात्पुच्छं प्रतिष्ठा ।
तदप्येव श्लोको भवति मनो-
मयात्मप्रकाशकः पूर्ववत् ॥१॥

वेद एकरूप हो जाते हैं वह मनरूप
उपाधिमें स्थित आत्मा है” यह नित्य
आत्माके साथ ऋगादिका एकत्व
बतलानेवाली श्रुति भी उनका
नित्यत्व सिद्ध होनेपर ही सार्थक
हो सकती है । इस सम्बन्धमें
“जिरामें सम्पूर्ण देव स्थित हैं उस
अक्षर और परब्रह्मरूप आकाशमें
ही ऋचाएँ तादात्म्यभावसे व्यवस्थित
हैं” ऐसा मन्त्रवर्ण भी है ।

‘आदेश आत्मा’ इस वाक्यमें
‘आदेश’ शब्द ब्राह्मणका वाचक
है; क्योंकि वेदोंका ब्राह्मणभाग ही
कर्तव्यविशेषोंका आदेश (उपदेश)
देता है । अथर्वाङ्गिरस ऋषिके
साक्षात्कार किये हुए मन्त्र और
ब्राह्मण ही पुच्छ—प्रतिष्ठा हैं, क्योंकि
उनमें शान्ति और पुष्टिकी स्थितिके
हेतुभूत कर्मोंकी प्रधानता है ।
पूर्ववत् इस विषयमें ही—मनोमय
आत्माका प्रकाश करनेवाला ही
यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दचल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मनोमय कोशकी महिमा तथा विज्ञानमय कोशका वर्णन

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कदाचनेति । तस्यैष
एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मा-
न्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः ।
स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं
पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः ।
सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । सहः पुच्छं प्रतिष्ठा ।
तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है उस
ब्रह्मानन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भयको प्राप्त नहीं होता । यह जो
[मनोमय शरीर] है वही उस अपने पूर्ववर्ती [प्राणमय कोश] का
शारीरिक आत्मा है । उस इस मनोमयसे दूसरा इसका अन्तर-आत्मा
विज्ञानमय है । उसके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह विज्ञानमय भी
पुरुषाकार ही है । उस [मनोमय] की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह
भी पुरुषाकार है । उसका श्रद्धा ही शिर है । ऋत दक्षिण पक्ष है ।
सत्य उत्तर पक्ष है । योग आत्मा (मध्यभाग) है और महत्तत्त्व पुच्छ-प्रतिष्ठा
है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य	जहाँसे मनके सहित वाणी उसे
मनसा सहेत्यादि । तस्य पूर्वस्य	न पाकर लौट आती है—इत्यादि
प्राणमयस्यैव एवात्मा शारीरः	[अर्थ स्पष्ट ही है] । उस पूर्व- कथित प्राणमयका यही शारीर

शरीरे प्राणमये भवः शारीरः ।
कः ? य एष मनोमयः । तस्माद्वा
एतस्मादित्यादि पूर्ववत् । अ-
न्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयो
मनोमयस्याभ्यन्तरो विज्ञानमयः ।

मनोमयो वेदात्मोक्तः । वे-
दार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका
विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणम-
न्तःकरणस्य धर्मः । तन्मयो
निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्नि-
र्वर्तित आत्मा विज्ञानमयः ।
प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि यज्ञादि-
स्तायते । यज्ञादिहेतुत्वं च
वक्ष्यति श्लोकेन ।

निश्चयविज्ञानवतो हि कर्तव्ये-
ष्वर्थेषु पूर्वं श्रद्धोत्पद्यते । सा
सर्वकर्तव्यानां प्राथम्याच्छिर इव
शिरः । ऋतसत्ये यथाव्या-
ख्याते एव । योगो युक्तिः

अर्थात् प्राणमय शरीरमें रहनेवाला
आत्मा है । कौन ? यह जो मनोमय
है । 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि
वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना
चाहिये । उस इस मनोमयसे दूसरा
इसका अन्तर आत्मा विज्ञानमय है
अर्थात् मनोमय कोशके भीतर
विज्ञानमय कोश है ।

मनोमय कोश वेदरूप बतलाया
गया था । वेदोंके अर्थके विषयमें
जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उसीका
नाम विज्ञान है । और वह अन्तः-
करणका अध्यवसायरूप धर्म है ।
तन्मय अर्थात् प्रमाणस्वरूप निश्चय
विज्ञानसे (निश्चयात्मिका बुद्धिसे)
निष्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय
है, क्योंकि प्रमाणके विज्ञानपूर्वक
ही यज्ञादिका विस्तार किया जाता
है । विज्ञान यज्ञादिका हेतु है—
यह बात श्रुति आगे चलकर मन्त्र-
द्वारा बतलायेगी ।

निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पन्न पुरुष-
को सबसे पहले कर्तव्य कर्ममें श्रद्धा
ही उत्पन्न होती है । अतः सम्पूर्ण
कर्मोंमें प्रथम होनेके कारण वह
शिरके समान उस विज्ञानमयका
शिर है । ऋत और सत्यका अर्थ
पहले (शीक्षाबल्ली नवम अनुवाकमें)
की हुई व्याख्याके ही समान है ।

समाधानम्, आत्मेवात्मा ।
 आत्मवतो हि युक्तस्य समाधान-
 व्रतोऽङ्गानीव श्रद्धादीनि यथार्थ-
 प्रतिपत्तिक्षमाणि भवन्ति ।
 तस्मात्समाधानं योग आत्मा
 विज्ञानमयस्य । महः पुच्छं प्रतिष्ठा ।

मह इति महत्तत्त्वं प्रथमजम् ।
 “महद्यक्षं प्रथमजं वेद” (वृ० उ०
 ५ । ४ । १) इति श्रुत्यन्तरात् ।
 पुच्छं प्रतिष्ठा कारणत्वात् ।
 कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा ।
 यथा वृक्षवीरुधां पृथिवी । सर्व-
 बुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं
 कारणम् । तेन तद्विज्ञानमयस्या-
 त्मनः प्रतिष्ठा । तदप्येव श्लोको
 भवति पूर्ववत् । यथान्नमयादी-
 नां ब्राह्मणोक्तानां प्रकाशकाः
 श्लोका एवं विज्ञानमयस्यापि ॥ १ ॥

योग—युक्ति अर्थात् समाधान ही
 आत्माके समान उसका आत्मा है ।
 युक्त अर्थात् समाधानसम्पन्न
 आत्मवान् पुरुषके ही अङ्गादिके
 समान श्रद्धा आदि साधन यथार्थ
 ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं ।
 अतः समाधान यानी योग ही
 विज्ञानमय कोशका आत्मा है और
 महः उसकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है ।

“प्रथम उत्पन्न हुए महान् यक्ष
 (पूजनीय) को जानता है” इस
 एक अन्य श्रुतिके अनुसार ‘महः’
 यह महत्तत्त्वका नाम है । वही
 [विज्ञानमयका] कारण होनेसे
 उसकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है, क्योंकि
 कारण ही कार्यवर्गकी प्रतिष्ठा
 (आश्रय) हुआ करता है, जैसे कि
 वृक्ष और रत्ता-गुल्मादिकी प्रतिष्ठा
 पृथिवी है । महत्तत्त्व ही बुद्धिके सम्पूर्ण
 विज्ञानोंका कारण है । इसलिये वह
 विज्ञानमय आत्माकी प्रतिष्ठा है ।
 पूर्ववत् उसके विषयमें ही यह श्लोक
 है अर्थात् जैसे पहले श्लोक ब्राह्मणोक्त
 अन्नमय आदिके प्रकाशक हैं उसी
 प्रकार यह विज्ञानमयका भी प्रकाशक
 श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय कोशका वर्णन

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म
चेद्वेद । तस्मान्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा ।
सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैव एव शरीर आत्मा
यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर
आत्मानन्दमयः । तेनैव पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव ।
तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः ।
मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द
आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

विज्ञान (विज्ञानवान् पुरुष) यज्ञका विस्तार करता है और वही कर्मोका भी विस्तार करता है । सम्पूर्ण देव ज्येष्ठ विज्ञान-ब्रह्मकी उपासना करते हैं । यदि साधक 'विज्ञान ब्रह्म है' ऐसा जान जाय और फिर उससे प्रमाद न करे तो अपने शरीरके सारे पापोंको त्यागकर वह समस्त कामनाओं (भोगों) को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है । यह जो विज्ञानमय है वही उस अपने पूर्ववर्ती मनोमय शरीरका आत्मा है । उस इस विज्ञानमयसे दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है । उस आनन्दमयके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह आनन्दमय भी पुरुषाकार ही है । उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारताके समान ही यह पुरुषाकार है । उसका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते । विज्ञान-

विज्ञानमयो-
पासनम् श्रद्धादिपूर्वकम् ।

अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुत
इति कर्माणि च तनुते । यस्मा-
द्विज्ञानकर्तृकं सर्वं तस्माद्युक्तं

विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति ।

किं च विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवा
इन्द्रादयो ज्येष्ठं प्रथमजत्वात्सर्व-
प्रवृत्तीनां वा तत्पूर्वकत्वात्प्रथमजं

विज्ञानं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति

तस्मिन्विज्ञानमये ब्रह्मण्यभि-

मानं कृत्वोपासत इत्यर्थः ।

तस्मात्ते महतो ब्रह्मण उपा-
सनाज्ज्ञानैश्वर्यवन्तो भवन्ति ।

तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेद्यदि वेद
विजानाति न केवलं वेदैव तस्मा-
द्ब्रह्मणश्चेन्न प्रमाद्यति बाह्येष्वेवा-
नात्मस्वात्मभावितत्वात्प्राप्तं वि-
ज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मभावनायाः

विज्ञान यज्ञका विस्तार करता
है अर्थात् विज्ञानवान् पुरुष ही
श्रद्धादिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करता
है । अतः यज्ञानुष्ठानमें विज्ञानका
कर्तृत्व है और तनुते—इसका भाव
यह है कि बर्ही कर्मोंका भी
विस्तार करता है । उस प्रकार
क्योंकि सब कुछ विज्ञानका ही
किया हुआ है इसलिये 'विज्ञानमय
आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कहना ठीक
ही है । यही नहीं, इन्द्रादि सम्पूर्ण
देवगण विज्ञानब्रह्मकी, जो सबसे
पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे
ज्येष्ठ है अथवा समस्त वृत्तियां
विज्ञानपूर्वक होनेके कारण जो
प्रथमोत्पन्न है, उस विज्ञानरूप ब्रह्मकी
उपासना अर्थात् ध्यान करते हैं ।
तात्पर्य यह है कि वे उस विज्ञानमय
ब्रह्ममें अभिमान करके उसकी
उपासना करते हैं । अतः वे उस
महद्ब्रह्मकी उपासना करनेसे ज्ञान
और ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं ।

उस विज्ञानरूप ब्रह्मको यदि
जान ले—केवल जान ही न ले बल्कि
यदि उससे प्रमाद भी न करे; बाह्य
अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि की
हुई है, उसके कारण विज्ञानमय
ब्रह्ममें की हुई आत्मभावनासे प्रमाद

प्रमदनं तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते तस्मा-
च्चेन्न प्रमाद्यतीति, अन्नमयादिष्वा-
त्मभावं हित्वा केवले विज्ञान-
मये ब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्नास्ते
चेदित्यर्थः ।

ततः किं स्यादित्युच्यते—
विज्ञानब्रह्मो- शरीरे पाप्मनो
पाप्मनफलम् हित्वा । शरीराभि-
माननिमित्ता हि सर्वे पाप्मानः
तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभि-
मानान्निमित्तापाये हानमुपपद्यते,
छत्रापाय इवच्छायापायः ।
तस्माच्छरीराभिमाननिमित्तान्
सर्वान्पाप्मनः शरीरप्रभवान्शरीर
एव हित्वा विज्ञानमयब्रह्मस्वरू-
पापन्नस्तत्स्थान्सर्वान्कामान् विज्ञा-
नमयेनैवात्मना समश्नुते सम्य-
ग्भुङ्क्त इत्यर्थः ।

तस्य पूर्वस्य मनोमयस्यात्मैष
आनन्दमयस्य एव शरीरे मनोमये
कार्यात्मत्वं- भवः शरीरः । कः ?
स्थापनम् य एष विज्ञानमयः । तस्माद्वा

होना सम्भव है; उसकी निवृत्तिके
लिये कहते हैं—‘यदि उससे प्रमाद
न करे’ इत्यादि । तात्पर्य यह है
कि यदि अन्नमय आदिमें आत्मभाव-
को छोड़कर केवल विज्ञानमय ब्रह्ममें
ही आत्मत्वकी भावना करके स्थित
रहे—

तो क्या होगा ? इसपर कहते
हैं—शरीरके पापोंको त्यागकर,
सम्पूर्ण पाप शरीराभिमानके कारण
ही होनेवाले हैं; विज्ञानमय ब्रह्ममें
आत्मत्वका अभिमान करनेसे निमित्त-
का क्षय हो जानेपर उनका भी
क्षय होना उचित ही है, जिस
प्रकार कि छातेके हटा लिये जानेपर
छायाकी भी निवृत्ति हो जाती है ।
अतः शरीराभिमानके कारण होने-
वाले शरीरजनित सम्पूर्ण पापोंको
शरीरहीमें त्यागकर विज्ञानमय ब्रह्म-
स्वरूपको प्राप्त हुआ साधक उसमें
स्थित सारे भोगोंको विज्ञानमय
स्वरूपसे ही सम्यक्प्रकारसे प्राप्त
कर लेता है अर्थात् उनका पूर्णतया
उपभोग करता है ।

उस पूर्वकथित मनोमयका शरीर
—मनोमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा
भी यही है । कौन ? यह जो
विज्ञानमय है । ‘तस्माद्वा एतस्मात्’

एतस्मादित्युक्तार्थम् । आनन्द-
मय इति कार्यात्मप्रतीतिरधि-
कारान्मयशब्दाच्च । अन्नादि-
मया हि कार्यात्मानो भौतिका
इहाधिकृताः । तदधिकारपतित-
श्चायमानन्दमयः, मयट् चात्र वि-
कारार्थे दृष्टो यथान्नमय इत्यत्र ।
तस्मात्कार्यात्मानन्दमयः प्रत्ये-
तन्यः ।

संक्रमणाच्च; आनन्दमयमा-
त्मानमुपसंक्रामतीति वक्ष्यति ।
कार्यात्मनां च संक्रमणमनात्मनां
दृष्टम् । संक्रमणकर्मत्वेन चा-
नन्दमय आत्मा श्रूयते । यथान्न-
मयमात्मानमुपसंक्रामतीति । न
चात्मन एवोपसंक्रमणम् । अधि-
कारविरोधादसंभवाच्च । न ह्य-

इत्यादि वान्यका अर्थ पहले कहा
जा चुका है । 'आनन्दमय' इस
शब्दसे कार्यात्माकी प्रतीति होती
है, क्योंकि यहाँ उसीका अधिकार
(प्रसङ्ग) है और आनन्दके साथ
'मयट्' शब्दका प्रयोग किया गया
है । यहाँ अन्नमय आदि भौतिक
कार्यात्माओंका अधिकार है; उन्हींके
अन्तर्गत यह आनन्दमय भी है ।
'मयट्' प्रत्यय भी यहाँ विकारके
अर्थमें देखा गया है; जैसा कि
'अन्नमय' इस शब्दमें है । अतः
आनन्दमय कार्यात्मा है—ऐसा
जानना चाहिये ।

संक्रमणके कारण भी यही बात
सिद्ध होती है । 'यह आनन्दमय
आत्माके प्रति संक्रमण करता है
[अर्थात् आनन्दमय आत्माको प्राप्त
होता है]' ऐसा आगे (अष्टम
अनुवाकमें) कहेंगे । अन्नमयादि
अनात्मा कार्यात्माओंका ही संक्रमण
होता देखा गया है । और संक्रमणके
कर्मरूपसे आनन्दमय आत्माका
श्रवण होता है, जैसे कि 'यह
अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण
(गमन) करता है' [इस वाक्यमें
देखा जाता है] । स्वयं आत्माका
ही संक्रमण होना सम्भव है नहीं,
क्योंकि इससे उस प्रसंगमें विरोध
आता है और ऐसा होना सम्भव
भी नहीं है । आत्माका आत्माको

त्मनैवात्मन उपसंक्रमणं संभवति । स्वात्मनि भेदाभावात् । आत्मभूतं च ब्रह्म सङ्क्रमितुः ।

शिरआदिकल्पनानुपपत्तेश्च । न हि यथोक्तलक्षण आकाशादिकारणेऽकार्यपतिते शिरआद्यवयरूपकल्पनोपपद्यते । “अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने” (तै० उ० २ । ७ । १) “अस्थूलमनणु” (वृ० उ० ३ । ८ । ८) “नेति नेत्यात्मा” (वृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्यादिविशेषापोहश्रुतिभ्यश्च ।

मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्च । न हि प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे प्रत्यक्षतोऽनुभूयमान आनन्दमय आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्याशङ्काभावात् “असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्” (तै० उ० २ । ६ । १) इति

ही प्राप्त होना कभी सम्भव नहीं है, क्योंकि अपने आत्मामें भेदका सर्वथा अभाव है और ब्रह्म भी संक्रमण करनेवालेका आत्मा ही है ।

[आत्मामें] शिर आदिकी कल्पना असम्भव होनेके कारण भी [आनन्दमय कार्यात्मा ही है] । आकाशादिके कारण और कार्यवर्गके अन्तर्गत न आनेवाले उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट आत्मामें शिर आदि अवयवरूप कल्पनाका होना संगत नहीं है । आत्मामें विशेष धर्मोंका बाध करनेवाली “अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रयमें” “स्थूल और सूक्ष्मसे रहित” “आत्मा यह नहीं है यह नहीं है” इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

[आनन्दमयको यदि आत्मा माना जाय तो] आगे कहे हुए मन्त्रका उदाहरण देना भी नहीं बनता । शिर आदि अवयवोंसे युक्त आनन्दमय आत्मारूप ब्रह्मके प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर तो ऐसी शंका ही नहीं हो सकती कि ब्रह्म नहीं है, जिससे कि [उस शंकाकी निवृत्तिके लिये] “जो पुरुष, ब्रह्म नहीं है—ऐसा जानता है वह असद्रूप

मन्त्रोदाहरणमुपपद्यते । ब्रह्म पुच्छं
प्रतिष्ठेत्यपि चानुपपन्नं पृथग्ब्र-
ह्मणः प्रतिष्ठात्वेन ग्रहणम् ।
तस्मात्कार्यपतित एवानन्दमयो
न पर एवात्मा ।

आनन्द इति विद्याकर्मणोः

आनन्दमयकोश- फलं तद्विकार आ-
प्रतिगदन्न नन्दमयः । स च

विज्ञानमयादान्तरः । यज्ञा-

दिहेतोर्विज्ञानमयादस्यान्तरत्व-

श्रुतेः । ज्ञानकर्मणोर्हि फलं

भोक्त्रर्थत्वादान्तरतमं स्यात् ।

आन्तरतमश्चानन्दमय आत्मा

पूर्वेभ्यः । विद्याकर्मणोः प्रिया-

द्यर्थत्वाच्च । प्रियादिप्रयुक्ते हि

विद्याकर्मणी । तस्मात्प्रियादीनां

फलरूपाणामात्मसंनिकर्षाद्वि-

ज्ञानमयस्याभ्यन्तरत्वमुपपद्यते ।

प्रियादिवासनानिर्वृतो ह्यानन्द-

ही हैं" इस मन्त्रका उल्लेख संगत
हो सके । तथा 'ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा
है' इस वाक्यके अनुसार प्रतिष्ठा-
रूपसे ब्रह्मको पृथक् ग्रहण करना
भी नहीं बन सकता । अतः यह
आनन्दमय कार्यवर्गके अन्तर्गत ही
है—परमात्मा नहीं है ।

'आनन्द' यह उपासना और
कर्मका फल है, उसका विकार
आनन्दमय कहलाता है । वह
विज्ञानमय कोशसे आन्तर है, क्योंकि
श्रुतिके द्वारा वह यज्ञादिके कारणभूत
विज्ञानमयकी अपेक्षा आन्तर बतलाया
गया है । उपासना और कर्मका फल
भोक्ताके ही लिये है, इसलिये वह
सबसे आन्तरतम होना चाहिये; सो
पूर्वोक्त सब कोशोंकी अपेक्षा
आनन्दमय आत्मा आन्तरतम है ही;
क्योंकि विद्या और कर्म भी
[प्रधानतया] प्रिय आदिके ही लिये
हैं । प्रिय आदिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे
ही उपासना और कर्मका अनुष्ठान
किया जाता है; अतः उनके फलरूप
प्रिय आदिका आत्मासे सान्निध्य
होनेके कारण विज्ञानमयकी अपेक्षा
इस (आनन्दमय कोश) का
आन्तरतम होना उचित ही है ।
प्रिय आदिकी वासनासे निष्पन्न

मयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्न उप-
लभ्यते ।

तस्यानन्दमयस्यात्मन इष्ट-
आनन्दमयस्य पुत्रादिदर्शनजं प्रियं
पुरुषविधत्स्व शिर इव शिरः
प्राधान्यात् । मोद इति प्रिय-
लाभनिमित्तो हर्षः । स एव च
प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः । आनन्द
इति सुखसामान्यमात्मा प्रिया-
दीनां सुखावयवानाम् । तेष्वनु-
स्यूतत्वात् ।

आनन्द इति परं ब्रह्म । तद्वि-
शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने
पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधाव-
न्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसा प्र-
च्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते ।
तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके ।
तद्वृत्तिविशेषप्रत्युपस्थापकस्य क-
र्मणोऽनवस्थितत्वात्सुखस्य क्षणि-
कत्वम् । तद्यदान्तःकरणं तपसा
तमोग्नेन विद्यया ब्रह्मचर्येण श्रद्धया

हुआ यह आनन्दमय स्वप्नावस्थामें
विज्ञानमयके अधीन ही उपलब्ध
होता है ।

उस आनन्दमय आत्माका पुत्रादि
इष्ट पदार्थोंके दर्शनसे होनेवाला
प्रिय ही प्रधानताके कारण शिरके
समान शिर है । प्रिय पदार्थकी
प्राप्तिसे होनेवाला हर्ष 'मोद'
कहलाता है; वही हर्ष प्रकृष्ट
(अतिशय) होनेपर 'प्रमोद' कहा
जाता है । 'आनन्द' सामान्य
सुखका नाम है; वह सुखके
अवयवभूत प्रिय आदिका आत्मा है,
क्योंकि उसीमें वे सब अनुस्यूत हैं ।

'आनन्द' यह परब्रह्मका ही
वाचक है । वही शुभकर्मद्वारा
प्रस्तुत किये हुए पुत्र-मित्रादि विशेष
विषय ही जिसकी उपाधि हैं उस
सुप्रसन्न अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष-
में, जब कि वह तमोगुणसे आच्छादित
नहीं होता, अभिव्यक्त होता है ।
वह लोकमें विषय-सुख नामसे प्रसिद्ध
है । उस वृत्तिविशेषको प्रस्तुत
करनेवाले कर्मके अस्थिर होनेके
कारण उस सुखकी भी क्षणिकता
है । अतः जिस समय अन्तःकरण
तमोगुणको नष्ट करनेवाले तप,
उपासना, ब्रह्मचर्य और श्रद्धाके द्वारा

च निर्मलत्वमापद्यते यावद्याव-
त्तावत्तावद्विविक्ते प्रसन्नेऽन्तः-
करण आनन्दविशेष उत्कृष्यते
विपुलीभवति । वक्ष्यति च-
“रसो वै सः । रसः खेवायं
लब्ध्वानन्दी भवति एष खेवान-
न्दयाति” (तै० उ० २।७।
१) “एतस्यैवानन्दस्यान्यानि
भूतानि मात्रामुपजीवन्ति” (चृ०
उ० ४।३।३२) इति च
श्रुत्यन्तरात् । एवं च कामोप-
शमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरो-
त्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते ।

एवं चोत्कृष्यमाणस्यानन्द-
मयस्यात्मनः परमार्थब्रह्मविज्ञाना-
पेक्षया ब्रह्म परमेव । यत्प्रकृतं
सत्यज्ञानानन्तलक्षणम्, यस्य
च प्रतिपत्त्यर्थं पञ्चान्नादिमयाः
कोशा उपन्यस्ताः, यच्च तेभ्य
आम्यन्तरम्, येन च ते सर्व
आत्मवन्तः, तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।

जितना-जितना निर्मलताको प्राप्त
होता है उतने-उतने ही स्वच्छ और
प्रसन्न हुए उस अन्तःकरणमें विशेष
आनन्दका उत्कर्ष होता है अर्थात्
वह बहुत बढ़ जाता है । यही बात
“वह रस हो है, इस रसको पाकर
ही पुरुष आनन्दी हो जाता है ।
यह रस ही सबको आनन्दित करता
है ।” इस प्रकार आगे कहेंगे,
तथा “इस आनन्दके अंशमात्रके
आश्रय ही सब प्राणी जीवित रहते
हैं” इस अन्य श्रुतिसे भी यही बात
सिद्ध होती है । इसी प्रकार काम-
शान्तिके उत्कर्षकी अपेक्षा आगे-
आगेके आनन्दका सौ-सौ गुना
उत्कर्ष आगे बतलाया जायगा ।

इस प्रकार परमार्थब्रह्मके विज्ञान-
की अपेक्षासे क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त
होनेवाले आनन्दमय आत्माकी
अपेक्षा ब्रह्म पर ही है । जो प्रकृत
ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है,
जिसकी प्राप्तिके लिये अन्नमय आदि
पाँच कोशोंका उपन्यास किया गया
है, जो उन सबकी अपेक्षा अन्तर्वर्ती
है और जिसके द्वारा वे सब
आत्मवान् हैं—वह ब्रह्म ही उस
आनन्दमयकी पुच्छ-प्रतिष्ठा है ।

तदेव च सर्वस्याविद्यापरि-
कल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूत-
मद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा आनन्द-
मयस्य । एकत्वावसानत्वात् ।
अस्ति तदेकमविद्याकल्पितस्य
द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म
प्रतिष्ठा पुच्छम् । तदेतस्मिन्नप्यर्थ
एष श्लोको भवति ॥१॥

अविद्याद्वारा कल्पना किये हुए
सम्पूर्ण द्वैतका निषेधावधिभूत वह
अद्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा है,
क्योंकि आनन्दमयका पर्यवसान भी
एकत्वमें ही होता है । अविद्या-
परिकल्पित द्वैतका अवसानभूत वह
एक और अद्वितीय ब्रह्म उसकी
प्रतिष्ठा यानी पुच्छ है । उस इसी
अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥



इति ब्रह्मानन्दवल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥



फणु अनुक्क

ब्रह्मको सत् और असत् जाननेवालोंका भेद, ब्रह्मज्ञ और अब्रह्मज्ञकी
ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें शंका तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चरूपसे
ब्रह्मके स्थित होनेका निरूपण ।

असन्नेव स भवति । असद्वहेति वेद चेत् । अस्ति
ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति । तस्यैष एव
शरीर आत्मा यः पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः । उता-
विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३ । आहो विद्वान-
नमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ । सोऽकामयत् ।
बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत् । स तपस्तप्त्वा
इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानु-
प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं
चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चावि-
ज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च ।
तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत्
ही हो जाता है । और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है' तो [ब्रह्मवेत्ता-
जन] उसे सत् समझते हैं । उस पूर्वकथित (विज्ञानमय) का यह
जो [आनन्दमय] है शरीर-स्थित आत्मा है । अब (आचार्यका ऐसा
उपदेश सुननेके अनन्तर शिष्यके) ये अनुप्रश्न हैं—क्या कोई अविद्वान्
पुरुष भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर परमात्माको प्राप्त हो सकता
है ? अथवा कोई विद्वान् भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर परमात्माको

प्राप्त होता है या नहीं ? [इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये आचार्य भूमिका ग्रँथते हैं—] उस परमात्माने कामना की 'मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ' । अतः उसने तप किया । उसने तप करके ही यह जो कुछ है इस स्रक्की रचना की । इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया । इसमें अनुप्रवेश कर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त्त-अमूर्त्त, [देशकालादि परिच्छिन्नरूपसे] कहे जानेयोग्य, और न कहे जानेयोग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक सत्य-असत्य-रूप हो गया । यह जो कुछ है उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' इस नामसे पुकारते हैं । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥१॥

असन्नेवासत्सम एव यथा-

सन्न पुरुषार्थसंव-
नदसद्वादिनोभेदः
न्ध्येवं स भवति

अपुरुषार्थसंवन्धी । कोऽसौ ?

योऽसदविद्यमानं ब्रह्मेति वेद

विजानाति चेद्यदि । तद्विपर्ययेण

यत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्ति-

बीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमप्य-

स्ति तद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।

कुतः पुनराशङ्का तन्नास्तित्वे ?

व्यवहारातीतत्वं ब्रह्मण इति

ब्रूमः । व्यवहारविषये हि वाचा-

जिस प्रकार असत् (अविद्यमान)

पदार्थ पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं होता उसी प्रकार वह भी असत्—असत्के समान ही पुरुषार्थसे सम्बन्ध नहीं रखनेवाला हो जाता है—वह कौन ? जो 'ब्रह्म असत्—अविद्यमान है' ऐसा जानता है । 'चेत्' शब्दका अर्थ 'यदि' है । इसके विपरीत 'जो तत्त्व सम्पूर्ण विकल्पोंका आश्रय, समस्त प्रवृत्तियोंका बीजरूप और सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित भी है वही ब्रह्म है' ऐसा यदि कोई जानता है [तो उसे ब्रह्मवेत्तालोग सद्रूप समझते हैं इस प्रकार इसका आगेके वाक्यसे सम्बन्ध है] ।

किन्तु ब्रह्मके अस्तित्वाभावके विषयमें शंका क्यों की जाती है ? [इसपर] हमारा यह कथन है कि ब्रह्म व्यवहारसे परे है । [इसी लिये] व्यवहारके विषयभूत पदार्थों-

रम्भणमात्रेऽस्तित्वभाविता बुद्धि-
स्तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्ति-
त्वमपि प्रतिपद्यते । यथा घटा-
दिव्यवहारविषयतयोपपन्नः सं-
स्तद्विपरीतोऽसन्निति प्रसिद्धम् ।
एवं तत्सामान्यादिहापि स्याद्ब्रह्म-
णो नास्तित्वप्रत्याशङ्का । तस्मा-
दुच्यते—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदेति ।

किं पुनः स्यात्तदस्तीति वि-
जानतस्तदाह—सन्तं विद्यमान-
ब्रह्मस्वरूपेण परमार्थसदात्मापन्न-
मेनमेवंविदं विदुर्ब्रह्मविदस्ततः
तस्मादस्तित्ववेदनात्सोऽन्येषां
ब्रह्मवद्विज्ञेयो भवतीत्यर्थः ।

अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति
मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य
वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्याश्र-

में ही, जो कि केवल वाणीसे ही
उच्चारण किये जानेवाले हैं, अस्तित्व-
की भावनासे भावित हुई बुद्धि
उनसे विपरीत व्यवहारातीत पदार्थों-
में अस्तित्वका भी अनुभव नहीं
करती; जैसे कि [जल लाना आदि]
व्यवहारके विषयरूपसे उपपन्न हुआ
घट आदि पदार्थ 'सत्' और उससे
विपरीत [बन्ध्यापुत्रादि] 'असत्'
होता है—इस प्रकार प्रसिद्ध है ।
उसी प्रकार उसकी समानताके
कारण यहाँ भी ब्रह्मके अविद्यमानत्व-
के विषयमें शंका हो सकती है ।
इसीलिये कहा है—'ब्रह्म है—ऐसा
यदि कोई जानता है' इत्यादि ।

किन्तु 'वह (ब्रह्म) है' ऐसा
जाननेवाले पुरुषको क्या फल मिलता
है ? इसपर कहते हैं—ब्रह्मवेत्तालोग
इस प्रकार जाननेवाले इस पुरुषको
सत्—विद्यमान अर्थात् ब्रह्मरूपसे
परमार्थ सत्स्वरूपको प्राप्त हुआ
समझते हैं । तात्पर्य यह है कि
इस कारणसे ब्रह्मके अस्तित्वको
जाननेके कारण वह दूसरोंके लिये
ब्रह्मके समान जाननेयोग्य हो
जाता है ।

अथवा जो पुरुष 'ब्रह्म नहीं
है' ऐसा मानता है वह अश्रद्धालु
होनेके कारण, वर्णाश्रमादि व्यवस्था-
रूप सारे ही शुभमार्गका,

दधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते-
ऽब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य । अतो
नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते
लोके । तद्विपरीतः सन्योऽस्ति
ब्रह्मेति चेद्वेद स तद्ब्रह्मप्रतिपत्ति-
हेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यव-
स्थालक्षणं श्रद्धधानतया यथा-
वत्प्रतिपद्यते यस्मात्तत्तत्तस्मात्
सन्तं साधुमार्गस्थमेनं विदुः
साधवः तस्मादस्तीत्येव ब्रह्म
प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यार्थः ।

तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैव
एव शरीरे विज्ञानमये भवः
शरीर आत्मा । कोऽसौ ? य एष
आनन्दमयः । तं प्रति नास्त्या-
शङ्का नास्तित्वे । अपोढसर्व-
विशेषत्वात्तु ब्रह्मणो नास्तित्वं
प्रत्याशङ्का युक्ता । सर्वसामा-
न्याच्च ब्रह्मणः । यस्मादेवमतः
तस्मात्, अथानन्तरं श्रोतुः
शिष्यस्यानुग्रहा आचार्योक्तिमनु
एते प्रश्ना अनुग्रहाः ।

असत्त्व प्रतिपादन करता है,
क्योंकि वह भी ब्रह्मकी प्राप्तिके ही
लिये है । अतः वह नास्तिक लोकमें
असत्—असाधु कहा जाता है ।
इसके विपरीत जो पुरुष 'ब्रह्म है'
ऐसा जानता है वह 'सत्' है,
क्योंकि वह उस ब्रह्मकी प्राप्तिके
हेतुभूत वर्णाश्रमादिके व्यवस्थारूप
सन्मार्गको श्रद्धापूर्वक ठीक-ठीक
जानता है । इसीलिये साधुलोग उसे
सत् यानी शुभ मार्गमें स्थित जानते
हैं । अतः 'ब्रह्म है' ऐसा ही
जानना चाहिये—यह इस वाक्यका
अर्थ है ।

उस विज्ञानमयका यही शरीर—
विज्ञानमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा
है । वह कौन ? यह जो आनन्दमय
है । उसके नास्तित्वमें तो कुछ भी
शंका नहीं है । किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण
विशेषणोंसे रहित है इसलिये उसके
अस्तित्वके अभावमें शंका होना
उचित ही है । इसके सिवा ब्रह्मकी
सबके साथ समानता होनेके कारण
भी [ऐसी शंका हो ही सकती है] ।
क्योंकि ऐसी बात है इसलिये अब—
इसके अनन्तर श्रवण करनेवाले
शिष्यके अनुग्रह हैं । आचार्यकी
इस उक्तिके पश्चात् किये जानेवाले
ये प्रश्न—अनुग्रह हैं—

सामान्यं हि ब्रह्माकाशादि-

विद्वदविद्वद्भेदेन कारणत्वाद्विदुषोऽ-
ब्रह्मप्राप्तावाक्षेपः विदुषश्च । तस्माद-

विदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते-
उत अपि अविद्वानसुं लोकं
परमात्मानसितः प्रेत्य कश्चन,
चनशब्दोऽप्यर्थे, अविद्वानपि
गच्छति प्राप्नोति किं वा न गच्छ-
तीति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्ट-
व्योऽनुप्रश्ना इति बहुवचनात् ।

विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ । यद्य-
विद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म
न गच्छति ततो विदुषोऽपि
ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते । अतस्तं
प्रति प्रश्न आहो विद्वानिति ।
उकारं च वक्ष्यमाणमधस्तादप-
कृष्य तकारं च पूर्व-
स्मादुतशब्दाद्व्यासज्याहो इत्ये-
तस्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोज्य
पृच्छति—उताहो विद्वानिति ।

आकाशादिका कारण होनेसे
ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनों-
हीके लिये समान है । इससे
अविद्वान्को भी ब्रह्मकी प्राप्ति होती
है—ऐसी आशंका की जाती है—
क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस
शरीरको छोड़नेके अनन्तर इस लोक
अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता
है ?—‘कश्चन’ में ‘चन’ शब्द ‘अपि
(भी)’ के अर्थमें है । ‘अथवा
नहीं होता ?’ यह इसके साथ
दूसरा प्रश्न भी समझना चाहिये,
क्योंकि यहाँ ‘अनुप्रश्नाः’ ऐसा बहु-
वचनका प्रयोग किया गया है ।

अन्य दो प्रश्न विद्वान्के विषयमें
हैं—ब्रह्म सबका साधारण कारण है,
तब भी यदि अविद्वान् उसे प्राप्त
नहीं होता तो विद्वान्के भी ब्रह्मको
प्राप्त न होनेकी आशंका होती है;
अतः उसके उद्देश्यसे पूछा जाता
है—‘क्या विद्वान् भी’ आदि ।
[मूल मन्त्रमें] आगे कहे जानेवाले
‘उ’ को आगेसे खींचकर और
पूर्वोक्त ‘उत’ शब्दसे उसमें ‘त’
जोड़कर ‘आहो’ इस शब्दके पहले
‘उत’ शब्द जोड़कर ‘उताहो विद्वान्’
इत्यादि प्रकारसे पूछता है—क्या

विद्वान्ब्रह्मविदपि कश्चिदितः प्रेत्यामुं लोकं समश्नुते प्राप्नोति समश्नुते उ इत्येवंस्थिते, अयादेशे यलोपे च कृतेऽकारस्य प्लुतिः समश्नुता ३ उ इति । विद्वान्समश्नुतेऽमुं लोकम् । किं वा यथाविद्वानेवं विद्वानपि न समश्नुत इत्यपरः प्रश्नः ।

द्वावेव वा प्रश्नौ विद्वदविद्वद्विषयौ । बहुवचनं तु सामर्थ्यप्राप्तप्रश्नान्तरापेक्षया घटते । 'असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' इति श्रवणादस्ति नास्तीति संशयस्ततोऽर्थप्राप्तः किमस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः । ब्रह्मणोऽपक्षपातित्वादविद्वान् गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः । ब्रह्मणः समत्वेऽप्यविदुष इव

कोई विद्वान् अर्थात् ब्रह्मवेत्ता भी इस शरीरको छोड़कर इस लोकको प्राप्त कर लेता है ? यहाँ मूलमें 'समश्नुते उ' ऐसा पद था । उसमें 'अय्' आदेश करके ['लोपः शाकल्यस्य' इस सूत्रके अनुसार] 'य्' का लोप करनेपर 'समश्नुत उ' ऐसा प्रयोग सिद्ध होता है । फिर 'त' के अकारको प्लुत करनेपर 'समश्नुता ३ उ' ऐसा पाठ हुआ है । विद्वान् इस लोकको प्राप्त होता है ? अथवा अविद्वान्के समान विद्वान् भी उसे प्राप्त नहीं होता ? यह एक अन्य प्रश्न है ।

अथवा विद्वान् और अविद्वान्से सम्बन्धित ये केवल दो ही प्रश्न हैं । इनकी सामर्थ्यसे प्राप्त एक और प्रश्नकी अपेक्षासे ही बहुवचन हो गया है । 'ब्रह्म असत् है—यदि ऐसा जानता है' तथा 'ब्रह्म है—यदि ऐसा जानता है' ऐसी श्रुति होनेसे 'ब्रह्म है या नहीं' ऐसा सन्देह होता है । अतः 'ब्रह्म है या नहीं' यह अर्थतः प्राप्त पहला अनुप्रश्न है । और ब्रह्म पक्षपाती है नहीं, इसलिये 'अविद्वान् उसे प्राप्त होता है या नहीं ?' यह दूसरा अनुप्रश्न है । तथा ब्रह्म समान है, इसलिये

विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्यते किं
विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इति
तृतीयोऽनुप्रश्नः ।

एतेषां प्रतिवचनार्थमुत्तरग्रन्थ

ब्रह्मणः सत्त्व- आरभ्यते । तत्रा-
रूपत्वस्थापनम् स्तित्वमेव तावदु-
च्यते । यच्चोक्तं 'सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म' इति, तच्च कथं
सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्यमितीदमु-
च्यते सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते ।
उक्तं हि "सदेव सत्यम्" इति ।
तस्मात्सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्य-
ते । कथमेवमर्थतावगम्यतेऽस्य
ग्रन्थस्य शब्दानुगमात् । अने-
नैव ह्यर्थेनान्वितान्युत्तराणि
वाक्यानि "तत्सत्यमित्याच-
क्षते" (तै० उ० २ । ६ । १)
"यदेष आकाश आनन्दो न
स्यात्" (तै० उ० २ । ७ । १)
इत्यादीनि ।

अविद्वान्के समान विद्वान्की भी
ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें 'विद्वान् उसे प्राप्त
होता है या नहीं ?' ऐसी शंका की
जाती है । यह तीसरा अनुप्रश्न है ।

आगेका ग्रन्थ इन प्रश्नोंका उत्तर
देनेके लिये ही आरम्भ किया जाता
है । उसमें सबसे पहले ब्रह्मके
अस्तित्वका ही वर्णन किया जाता
है । 'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है'
ऐसा जो पहले कह चुके हैं सो
वह ब्रह्मकी सत्यता किस प्रकार
है—यह बतलाना चाहिये । इस-
पर कहते हैं—उसकी सत्ता
बतलानेसे ही उसके सत्यत्वका भी
प्रतिपादन हो जाता है । "सत् ही
सत्य है" ऐसा अन्यत्र कहा भी
है । अतः उसकी सत्ता बतलानेसे
ही उसका सत्यत्व भी बतला
दिया जाता है । किन्तु इस ग्रन्थ-
का भी यही तात्पर्य है—यह कैसे
जाना गया ? इसपर कहते हैं—
शब्दोंके अनुगमन (अभिप्राय) से;
क्योंकि "वह सत्य है—ऐसा कहते
हैं" "यदि यह आनन्दमय आकाश
न होता" आदि आगेके वाक्य भी
इसी अर्थसे युक्त हैं ।

तत्रासदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते ।
 कस्मात् ? यदस्ति तद्विशेषतो
 गृह्यते यथा घटादि । यन्नास्ति
 तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणा-
 दि । तथा नोपलभ्यते ब्रह्म ।
 तस्माद्विशेषतोऽग्रहणान्नास्तीति ।
 तन्न; आकाशादिकारणत्वा-
 द्ब्रह्मणः । न नास्ति ब्रह्म । कस्मा-
 दाकाशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो
 जातं गृह्यते । यस्माच्च जायते
 किञ्चित्तदस्तीति दृष्टं लोके; यथा
 घटाङ्कुरादिकारणं मृद्बीजादि ।
 तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति
 ब्रह्म ।

न चासतो जातं किञ्चिद्-
 गृह्यते लोके कार्यम् । असतश्चेन्ना-
 मरूपादि कार्यं निरात्मकत्वा-

इसमें यह आशंका की जाती है
 कि ब्रह्म असत् ही है । ऐसा क्यों
 है ? क्योंकि जो वस्तु होती है वह
 विशेषरूपसे उपलब्ध हुआ करती
 है; जैसे कि घट आदि । और जो
 नहीं होती उसकी उपलब्धि भी नहीं
 होती; जैसे—शशशृङ्गादि । इसी
 प्रकार ब्रह्मकी भी उपलब्धि नहीं
 होती । अतः विशेषरूपसे ग्रहण न
 किया जानेके कारण वह है ही नहीं ।

ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म
 आकाशादिका कारण है । ब्रह्म नहीं
 है—ऐसी बात नहीं है । क्यों नहीं
 है ? क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ
 आकाशादि सम्पूर्ण कार्यवर्ग
 देखनेमें आता है । जिससे किसी
 वस्तुका जन्म होता है वह पदार्थ
 होता ही है—ऐसा लोकमें देखा गया
 है; जैसे कि घट और अङ्कुरादिके
 कारण मृत्तिका एवं बीज आदि ।
 अतः आकाशादिका कारण होनेसे
 ब्रह्म है ही ।

लोकमें असत्से उत्पन्न हुआ
 कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता ।
 यदि नाम-रूपादि कार्यवर्ग असत्से
 उत्पन्न हुआ होता तो वह निराधार

ओपलभ्येत । उपलभ्यते तु;
तस्मादस्ति ब्रह्म । असत्तश्चेत्कार्यं
गृह्यमाणमप्यसदन्वितमेव तत्
स्यात् । न चैवम्; तस्मादस्ति
ब्रह्म तत्र । “कथमसतः सज्जायेत”
(छा० उ० ६ । २ । २) इति
श्रुत्यन्तरमसतः सज्जन्मासंभव-
मन्दाचष्टे न्यायतः । तस्मात्सदेव
ब्रह्मेति युक्तम् ।

तद्यदि मृद्धीजादिवत्कारणं
स्यादचेतनं तर्हि ?

न, कामयितृत्वात् । न हि

ब्रह्माणश्चित्स्वरूपत्व-
विवेचनम् कामयित्रचेतनमस्ति
लोके । सर्वज्ञं हि

ब्रह्मेत्यवोचाम । अतः कामयि-
तृत्वोपपत्तिः ।

होनेके कारण ग्रहण ही नहीं किया
जा सकता था । किन्तु वह ग्रहण
किया ही जाता है; इसलिये ब्रह्म है
ही । यदि यह कार्यवर्ग असत्से
उत्पन्न हुआ होता तो ग्रहण किये
जानेपर भी असदात्मक ही ग्रहण
किया जाता । किन्तु ऐसी बात है
नहीं । इसलिये ब्रह्म है ही । इसी
सम्बन्धमें “असत्से सत् कैसे उत्पन्न
हो सकता है” ऐसी एक अन्य
श्रुतिने युक्तिपूर्वक असत्से सत्का
जन्म होना असम्भव बतलाया है ।
इसलिये ब्रह्म सत् ही है—यही मत
ठीक है ।

शंका—यदि ब्रह्म मृत्तिका और
बीज आदिके समान [जगत्का
उपादान] कारण है तो वह अचेतन
होना चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह
कामना करनेवाला है । लोकमें कोई
भी कामना करनेवाला अचेतन नहीं
हुआ करता । ब्रह्म सर्वज्ञ है—यह
हम पहले कह चुके हैं । अतः
उसका कामना करना भी युक्त
ही है ।

कामयितृत्वादसदादिवदना-
सकाममिति चेत् ?

न, स्वातन्त्र्यात् । यथान्यान्
परवशीकृत्य कामादिदोषाः
प्रवर्तयन्ति न तथा ब्रह्मणः
प्रवर्तकाः कामाः । कथं तर्हि
सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्मभूतत्वा-
द्विशुद्धा न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते ।
तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म प्राणि-
कर्मपेक्षया । तस्मात्स्वातन्त्र्यं
कामेषु ब्रह्मणः । अतो नानास-
कामं ब्रह्म ।

साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च । किं
च यथान्येषामनात्मभूता धर्मा-
दिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्म-
व्यतिरिक्तकार्यकरणसाधनान्त-
रापेक्षाश्च न तथा ब्रह्मणो निमि-

शंका—कामना करनेवाला होनेसे
तो वह हमारी-तुम्हारी तरह अनाप्त
काम(अपूर्ण कामनावाला) सिद्ध होगा ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है,
क्योंकि वह स्वतन्त्र है । जिस प्रकार
काम आदि दोष अन्य जीवोंको
विवश करके प्रवृत्त करते हैं
उस प्रकार वे ब्रह्मके प्रवर्तक नहीं
हैं । तो वे कैसे हैं ? वे सत्य-ज्ञान-
स्वरूप एवं स्वात्मभूत होनेके
कारण विशुद्ध हैं । उनके द्वारा
ब्रह्म प्रवृत्त नहीं किया जाता; बल्कि
जीवोंके प्रारब्ध-कर्मोंकी अपेक्षासे
वह ब्रह्म ही उनका प्रवर्तक है ।
अतः कामनाओंके करनेमें ब्रह्मकी
स्वतन्त्रता है । इसलिये ब्रह्म अनाप्त-
काम नहीं है ।

किन्हीं अन्य साधनोंकी अपेक्षा-
वाला न होनेसे भी कामनाओंके
विषयमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है । जिस
प्रकार धर्मादि कारणोंकी अपेक्षा
रखनेवाली अन्य जीवोंकी अनात्मभूत
कामनाएँ अपने आत्मासे अतिरिक्त
देह और इन्द्रियरूप अन्य साधनों-
की अपेक्षावाली होती हैं उस प्रकार
ब्रह्मको निमित्त आदिकी अपेक्षा

साद्यपेक्षत्वम् । किं तर्हि स्वात्म-
नोऽनन्याः ।

तदेतदाह सोऽकामयत स

ब्रह्मणो आत्मा यस्मादाकाशः
बहुभवनस्तद्भवनः संभूतोऽकामयत

कामितवान् । कथम् ? बहु स्यां
बहु प्रभूतं स्यां भवेयम् । कथमे-
कस्थार्थान्तराननुप्रवेशे बहुत्वं
स्यादित्युच्यते । प्रजायेयोत्पद्येय ।

न हि पुत्रोत्पत्त्येवार्थान्तरविषयं
बहुभवनम्, कथं तर्हि ? आत्म-
स्थानाभिव्यक्तनामरूपाभिव्य-
क्त्या । यदात्मस्थे अनभि-
व्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते तदा
नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागे-
नैव ब्रह्मणाप्रविभक्तदेशकाले
सर्वावस्थासु व्याक्रियेते तदा
तन्नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहु-
भवनम् । नान्यथा निरवयवस्य
ब्रह्मणो बहुत्वापत्तिरुपपद्यतेऽल्प-

नहीं होती । तो ब्रह्मकी कामनाएँ
कैसी होती हैं ? वे स्वात्मासे
अभिन्न होती हैं ।

उसीके विषयमें श्रुति कहती है—
उसने कामना की—उस आत्माने,
जिससे कि आकाश उत्पन्न हुआ
है, कामना की । किस प्रकार
कामना की ? मैं बहुत—अधिक
रूपमें हो जाऊँ । अन्य पदार्थमें प्रवेश
किये बिना ही एक वस्तुकी बहुलता
कैसे हो सकती है ? इसपर कहते
हैं—‘प्रजायेय’ अर्थात् उत्पन्न होऊँ ।
यह ब्रह्मका बहुत होना पुत्रकी
उत्पत्तिके समान अन्य वस्तुविषयक
नहीं है । तो फिर कैसा है ? अपने-
में अव्यक्तरूपसे स्थित नाम-रूपोंकी
अभिव्यक्तिके द्वारा ही [यह अनेक-
रूप होना है] । जिस समय
आत्मामें स्थित अव्यक्त नाम और
रूपोंको व्यक्त किया जाता है उस
समय वे अपने स्वरूपका त्याग किये
बिना ही समस्त अवस्थाओंमें ब्रह्मसे
अभिन्न देश और कालमें ही व्यक्त
किये जाते हैं । यह नाम-रूपका
व्यक्त करना ही ब्रह्मका बहुत होना
है । इसके सिवा और किसी प्रकार
निरवयव ब्रह्मका बहुत अथवा अल्प
होना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार

त्वं वा । यथाकाशस्याल्पत्वं बहु-
त्वं च वस्तुन्तरकृतमेव । अतस्त-
द्द्वारेणैवात्मा बहु भवति ।

न ह्यात्मनोऽन्यदनात्मभूतं
तत्प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मं व्यव-
हितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वा
वस्तु विद्यते । अतो नामरूपे
सर्वावस्थे ब्रह्मणैवात्मवती, न
ब्रह्म तदात्मकम् । ते तत्प्रत्या-
ख्याने न स्त एवेति तदात्मके
उच्येते । ताभ्यां चोपाधिभ्यां
ज्ञातृज्ञेयज्ञानशब्दार्थादिसर्वसं-
व्यवहारमाग्नब्रह्म ।

स आत्मैवंकामः संस्तपो-
ऽतप्यत । तप इति ज्ञानमुच्यते ।
“यस्य ज्ञानमयं तपः” (मु० उ०
१ । १ । ८) इति श्रुत्यन्तरात् ।
आप्तकामत्वाच्चेतरस्यासंभवं एव
तपसः । तत्तपोऽतप्यत तप्तवान् ।

कि आकाशका अल्पत्व और बहुत्व
भी अन्य वस्तुके ही अधीन है
[उसी प्रकार ब्रह्मका भी है] । अतः
उन (नाम-रूपों) के द्वारा ही ब्रह्म
बहुत हो जाता है ।

आत्मासे भिन्न अनात्मभूत, तथा
उससे भिन्न देश-कालमें रहनेवाली
कोई भी सूक्ष्म, व्यवहित (ओटवाली),
दूरस्थ, अथवा भूत या भविष्यकालीन
वस्तु नहीं है । अतः सम्पूर्ण
अवस्थाओंसे सम्बन्धित नाम और
रूप ब्रह्मसे ही आत्मवान् हैं, किन्तु
ब्रह्म तद्रूप नहीं है । ब्रह्मका निषेध
करनेपर वे रह ही नहीं सकते,
इसीसे वे तद्रूप कहे जाते हैं । उन
उपाधियोंसे ही ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय और
ज्ञान—इन शब्दोंका तथा इनके अर्थ
आदि सब प्रकारके व्यवहारका पात्र
बनता है ।

उस आत्माने ऐसी कामनावाला
होकर तप किया । ‘तप’ शब्दसे
यहाँ ज्ञान कहा जाता है, जैसा कि
“जिसका ज्ञानरूप तप है” इस अन्य
श्रुतिसे सिद्ध होता है । आप्तकाम
होनेके कारण आत्माके लिये अन्य
तप तो असम्भव ही है । ‘उसने
तप किया’ इसका तात्पर्य यह है

सृज्यमानजगद्रचनादिविषयमा-
लोचनामकरोदात्मेत्यर्थः ।

स एवमालोच्य तपस्तप्त्वा
प्राणिकर्मादिनिमित्तानुरूपमिदं
सर्वं जगद्देशतः कालतो नाम्ना
रूपेण च यथानुभवं सर्वैः
प्राणिभिः सर्वावस्थैरनुभूयमानम-
सृजत सृष्टवान् । यदिदं किं च
यत्किं चेदमविशिष्टम् । तदिदं
जगत्सृष्ट्वा किमकरोदित्युच्यते-
तदेव सृष्टं जगदनुप्राविशदिति ।

तत्रैतच्चिन्त्यं कथमनुप्राविश-

तस्य जगदनु- दिति । किं यः
प्रवेशः सृष्टा स तेनैवात्म-

नानुप्राविशदुतान्येनेति, किं ता-
वद्युक्तम् ? क्त्वाप्रत्ययश्रवणाद्यः
सृष्टा स एवानुप्राविशदिति ।

कि आत्माने रचे जानेवाले जगत्की
रचना आदिके विषयमें आलोचना की ।

इस प्रकार आलोचना अर्थात् तप
करके उसने प्राणियोंके कर्मादि
निमित्तोंके अनुरूप इस सम्पूर्ण
जगत्को रचा, जो देश, काल,
नाम और रूपसे यथानुभव सारी
अवस्थाओंमें स्थित सभी प्राणियोंद्वारा
अनुभव किया जाता है । यह जो
कुछ है अर्थात् सामान्यरूपसे यह
जो कुछ जगत् है इसे रचकर उसने
क्या किया, सो बतलाते हैं—वह उस
रचे हुए जगत्में ही अनुप्रविष्ट
हो गया ।

अब यहाँ यह विचारना है कि
उसने किस प्रकार अनुप्रवेश किया ?
जो सृष्टा था, क्या उसने स्वस्वरूपसे
ही अनुप्रवेश किया अथवा किसी
और रूपसे ? इनमें कौन-सा पक्ष
समीचीन है ? श्रुतिमें ['सृष्ट्वा' इस
क्रियामें] 'क्त्वा' प्रत्यय होनेसे तो
यही ठीक जान पड़ता है कि जो सृष्टा
था उसीने पीछे प्रवेश भी किया ।*

* 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकालिक क्रियामें हुआ करता है । हिन्दीमें इसी
अर्थमें 'कर' या 'के' प्रत्यय होता है; जैसे—'रामने इयामको बुलाकर [या
बुलाके] धमकाया ।' इसमें यह नियम होता है कि पूर्वकालिक क्रिया और
मुख्य क्रियाका कर्ता एक ही होता है; जैसे कि उपर्युक्त वाक्यमें पूर्वकालिक
क्रिया 'बुलाकर' तथा मुख्य क्रिया 'धमकाया' इन दोनोंका कर्ता 'राम' ही है ।

ननु न युक्तं मृद्वच्चेत्कारणं
ब्रह्म तदात्मकत्वात्कार्यस्य । का-
रणमेव हि कार्यात्मना परिणत-
मित्यतोऽप्रविष्ट इव कार्योत्पत्ते-
रूर्ध्वं पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशो-
ऽनुपपन्नः । न हि घटपरिणाम-
व्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशो-
ऽस्ति । यथा घटे चूर्णात्मना
मृदोऽनुप्रवेश एवमन्येनात्मना
नामरूपकार्योऽनुप्रवेश आत्मन इति
चेच्छ्रुत्यन्तराच्च “अनेन जीवेना-
त्मनानुप्रविश्य” (छा० उ० ६।
३। २) इति ।

नैवं युक्तमेकत्वाद्ब्रह्मणः । मृ-
दात्मनस्त्वनेकत्वात्सावयवत्वाच्च
युक्तो घटे मृदश्चूर्णात्मनानु-
प्रवेशः । मृदश्चूर्णास्याप्रविष्टदेश-
वत्त्वाच्च । न त्वात्मन एकत्वे

पूर्व०—यदि ब्रह्म मृत्तिकाके
समान जगत्का कारण है तो
उसका कार्य तद्रूप होनेके कारण
उसमें उसका प्रवेश करना सम्भव
नहीं है । क्योंकि कारण ही कार्यरूप-
से परिणत हुआ करता है, अतः
किसी अन्य पदार्थके समान पहले
बिना प्रवेश किये कार्यकी उत्पत्तिके
अनन्तर उसमें कारणका पुनः प्रवेश
करना सर्वथा असम्भव है ? घटरूप-
में परिणत होनेके सिवा मृत्तिकाका
घटमें और कोई प्रदेश नहीं हुआ
करता । हाँ, जिस प्रकार घटमें चूर्ण
(बालू) रूपसे मृत्तिकाका अनु-
प्रवेश होता है उसी प्रकार किसी
अन्य रूपसे आत्माका नाम-रूप कार्यमें
भी अनुप्रवेश हो सकता है; जैसा
कि “इस जीवरूपसे अनुप्रवेश करके”
इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है
—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा मानना उचित
नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो एक ही
है । मृत्तिकारूप कारण तो अनेक
और सावयव होनेके कारण उसका
घटमें चूर्णरूपसे अनुप्रवेश करना भी
सम्भव है, क्योंकि मृत्तिकाके चूर्णका
उस देशमें प्रवेश नहीं है; किन्तु
आत्मा तो एक है, अतः उसके

इसी प्रकार ‘अनुप्राविशत्’ और ‘सृष्ट्वा’ इन दोनों क्रियाओंका कर्ता भी ब्रह्म
ही होना चाहिये ।

सति निरवयवत्वादप्रविष्टदेशा-
भावाच्च प्रवेश उपपद्यते । कथं
तर्हि प्रवेशः स्यात् । युक्तश्च प्रवेशः
श्रुतत्वाच्चदेवानुप्राविशदिति ।

सावयवमेवास्तु तर्हि । साव-
यवत्वान्मुखे हस्तप्रवेशवन्नाम-
रूपकार्ये जीवात्मनानुप्रवेशो युक्त
एवेति चेत् ?

नाशून्यदेशत्वात् । न हि
कार्यात्मना परिणतस्य नाम-
रूपकार्यदेशव्यतिरेकेणात्मशून्यः
प्रदेशोऽस्ति यं प्रविशेज्जीवात्मना ।
कारणमेव चेत्प्रविशेज्जीवात्मत्वं
जह्याद्यथा घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं
जहाति । तदेवानुप्राविशदिति
च श्रुतेर्न कारणानुप्रवेशो युक्तः ।

निरवयव और उससे अप्रविष्ट देशका
अभाव होनेके कारण उसका प्रवेश
करना सम्भव नहीं है । तो फिर उसका
प्रवेश कैसे होना चाहिये ? तथा
उसका प्रवेश होना उचित ही है,
क्योंकि 'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया'
ऐसी श्रुति है ।

पूर्व०—तब तो ब्रह्म सावयव ही
होना चाहिये । उस अवस्थामें,
सावयव होनेके कारण मुखमें हाथका
प्रवेश होनेके समान उसका नाम-रूप
कार्यमें जीवरूपसे प्रवेश होना ठोक
ही होगा—यदि ऐसा कहें तो ?

सिद्धान्ता—नहीं; क्योंकि उससे
शून्य कोई देश नहीं है । कार्य-
रूपमें परिणत हुए ब्रह्मका नाम-रूप
कार्यके देशसे अतिरिक्त और कोई
अपनेसे शून्य देश नहीं है, जिसमें
उसका जीवरूपसे प्रवेश करना
सम्भव हो । और यदि यह मानो
कि जीवात्माने कारणमें ही प्रवेश
किया तब तो वह अपने जीवत्वको
ही त्याग देगा, जिस प्रकार कि
घड़ा मृत्तिकामें प्रवेश करनेपर
अपना घटत्व त्याग देता है । तथा
'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' इस
श्रुतिसे भी कारणमें अनुप्रवेश करना
सम्भव नहीं है ।

कार्यान्तरमेव स्यादिति चेत् ?
तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं
कार्यं नामरूपपरिणतं कार्यान्तर-
मेवापद्यत इति चेत् ?

न; विरोधात् । न हि घटो
घटान्तरमापद्यते । व्यतिरेक-
श्रुतिविरोधाच्च । जीवस्य नाम-
रूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः
श्रुतयो विरुध्येरन् । तदापत्तौ
मोक्षासंभवाच्च । न हि यतो
मुच्यमानस्तदेवापद्यते । न हि
शृङ्खलापत्तिर्वद्धस्य तस्करादेः ।

बाह्यान्तर्भेदेन परिणतमिति
चेत्तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्या-
धारत्वेन तदन्तर्जीवात्मनाधेय-
त्वेन च परिणतमिति चेत् ?

पूर्व०—किसी अन्य कार्यमें ही
प्रवेश किया—यदि ऐसा मानें तो ?
अर्थात् 'तदेवानुप्राविशत्' इस
श्रुतिके अनुसार जीवात्मारूप कार्य
नाम-रूपमें परिणत हुए किसी अन्य
कार्यको ही प्राप्त हो जाता है—यदि
ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे
विरोध उपस्थित होता है । एक घड़ा
किसी दूसरे घड़ेमें लीन नहीं हो
जाता । इसके सिवा [ऐसा मानने-
से] व्यतिरेक श्रुतिसे विरोध भी
होता है । [यदि ऐसा मानेंगे तो]
जीव नाम-रूपात्मक कार्यसे व्यति-
रिक्त (भिन्न) है—ऐसा अनुवाद
करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध हो
जायगा और ऐसा होनेपर उसका
मोक्ष होना भी असम्भव होगा ।
क्योंकि जो जिससे छूटनेवाला होता है
वह उसीको प्राप्त नहीं हुआ करता; *
जंजीरसे बँधे हुए चोर आदिका
जंजीररूप हो जाना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—वही बाह्य और आन्तरके
भेदसे परिणत हो गया, अर्थात्
वह कारणरूप ब्रह्म ही शरीरादि
आधाररूपसे बाह्य और आधेय
जीवरूपसे उसका अन्तर्वर्ती हो
गया—यदि ऐसा मानें तो ?

* अर्थात् जीवको तो नाम-रूपात्मक कार्यसे मुक्त होना इष्ट है, फिर
वह उसीको क्यों प्राप्त होगा ?

न; वहिःष्ठस्य प्रवेशोपपत्तेः । न हि यो यस्यान्तःस्थः स एव तत्प्रविष्ट उच्यते । वहिःष्ठस्यानु-
प्रवेशः स्यात्प्रवेशशब्दार्थस्यैवं दृष्टत्वात् । यथा गृहं कृत्वा प्राविशदिति ।

जलसूर्यकादिप्रतिविम्बवत्प्रवेशः स्यादिति चेन्न; अपरिच्छिन्नत्वादमूर्तत्वाच्च । परिच्छिन्नस्य मूर्तस्यान्यस्यान्यत्र प्रसादस्वभावके जलादौ सूर्यकादिप्रतिविम्बोदयः स्यात् । न त्वात्मनः, अमूर्तत्वादाकाशादिकारणस्यात्मनो व्यापकत्वात् । तद्विप्रकृष्टदेशप्रतिविम्बाधारवस्त्वन्तराभावाच्च प्रतिविम्बवत्प्रवेशो न युक्तः ।

एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशो न च गत्यन्तरमुपलभामहे 'तदे-

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो सकता है । जो जिसके भीतर स्थित है वह उसमें प्रविष्ट हुआ नहीं कहा जाता । अनुप्रवेश तो बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो सकता है, क्योंकि 'प्रवेश' शब्दका अर्थ ऐसा ही देखा गया है; जैसे कि 'घर बनाकर उसमें प्रवेश किया' इस वाक्यमें ।

यदि कहो कि जलमें सूर्यके प्रतिविम्ब आदिके समान उसका प्रवेश हो सकता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अपरिच्छिन्न और अमूर्त है । परिच्छिन्न और मूर्तरूप अन्य पदार्थोंका ही स्वच्छस्वभाव जल आदि अन्य पदार्थोंमें सूर्यकादिरूप प्रतिविम्ब पड़ा करता है; किन्तु आत्माका प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि वह अमूर्त है तथा आकाशादिका कारणरूप आत्मा व्यापक भी है । उससे दूर देशमें स्थित प्रतिविम्बकी आधारभूत अन्य वस्तुका अभाव होनेसे भी उसका प्रतिविम्बके समान प्रवेश होना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—तब तो आत्माका प्रवेश होता ही नहीं—इसके सिवा 'तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिकी और

वानुप्राविशत्' इति श्रुतेः । श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम् । न चास्माद्वाक्याद्यत्नवतामपि विज्ञानमुत्पद्यते । हन्त तर्ह्यनर्थकत्वाद्पोह्यमेतद्वाक्यम् 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति ।

न, अन्यार्थत्वात् । किमर्थमस्थाने चर्चा । प्रकृतो ह्यन्यो विवक्षितोऽस्य वाक्यस्यार्थोऽस्ति स स्मर्तव्यः । "ब्रह्मविदामोति परम्" (तै० उ० २।१।१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० उ० २।१।१) इति तद्विज्ञानं च विवक्षितं प्रकृतं च तत् । ब्रह्मस्वरूपानुगमाय चाकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं प्रदर्शितं ब्रह्मानुगमश्चारब्धः । तत्रान्नमयादात्मनोऽन्योऽन्तर आत्मा प्राण-

कोई गति दिखायी नहीं देती । हमारे (मीमांसकोंके) सिद्धान्तानुसार इन्द्रियातीत विषयोंका ज्ञान होनेमें श्रुति ही कारण है । किन्तु इस वाक्यसे बहुत यत्न करनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । अतः खेद है कि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह वाक्य अर्थशून्य होनेके कारण त्यागने ही योग्य है !

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस वाक्यका अर्थ अन्य ही है । इस प्रकार अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों करते हो ? इस प्रसंगमें इस वाक्यको और ही अर्थ कहना अभीष्ट है । उसीको स्मरण करना चाहिये । "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" "जो उसे बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ जानता है" इत्यादि वाक्योंद्वारा जिसका निरूपण किया गया है उस ब्रह्मका ही विज्ञान यहाँ बतलाना अभीष्ट है और उसीका यहाँ प्रसङ्ग भी है । ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त सम्पूर्ण कार्यवर्ग दिखलाया गया है तथा ब्रह्मानुभवका प्रसङ्ग भी चल ही रहा है । उसमें अन्नमय आत्मासे भिन्न दूसरा अन्तरात्मा प्राणमय है,

मयस्तदन्तर्सनोमयो विज्ञानमय
इति विज्ञानगुहायां प्रवेशितस्तत्र
चानन्दमयो विशिष्ट आत्मा
प्रदर्शितः ।

अतः परमानन्दमयलिङ्गाधि-
गमद्वारेणानन्दविवृद्धयवसान
आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा सर्व-
विकल्पास्पदो निर्विकल्पोऽस्या-
मेव गुहायामधिगन्तव्य इति
तत्प्रवेशः प्रकल्प्यते । न ह्यन्य-
त्रोपलभ्यते ब्रह्म निर्विशेषत्वात् ।
विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतु-
र्दृष्टः, यथा राहोश्चन्द्रार्कविशिष्ट-
संबन्धः । एवमन्तःकरणगुहात्म-
संबन्धो ब्रह्मण उपलब्धिहेतुः ।
संनिकर्षादवभासात्मकत्वाच्चान्तः-
करणस्य ।

उसका अन्तर्वर्ती मनोमय और फिर
विज्ञानमय है । इस प्रकार आत्माका
विज्ञानगुहामें प्रवेश करा दिया गया
है, और वहाँ आनन्दमय ऐसे विशिष्ट
आत्माको प्रदर्शित किया गया है ।

इसके आगे आनन्दमय—इस
लिङ्गके ज्ञानद्वारा आनन्दके उत्कर्ष-
का अवसानभूत आत्मा जो सम्पूर्ण
विकल्पका आश्रयभूत एवं निर्विकल्प
ब्रह्म है तथा [आनन्दमय कोशकी]
पुच्छ प्रतिष्ठा है, वह इस गुहामें ही
अनुभव किये जाने योग्य है—
इसलिये उसके प्रवेशकी कल्पना
की गयी है । निर्विशेष होनेके कारण
ब्रह्म [बुद्धिरूप गुहाके सिवा] और
कहीं उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि
विशेषका सम्बन्ध ही उपलब्धिमें हेतु
देखा गया है, जिस प्रकार किराडु-
की उपलब्धिमें चन्द्रमा अथवा सूर्य-
रूप विशेषका सम्बन्ध । इस प्रकार
अन्तःकरणरूप गुहा और आत्मा-
का सम्बन्ध ही ब्रह्मकी उपलब्धिका
हेतु है, क्योंकि अन्तःकरण उसका
समीपवर्ती और प्रकाशस्वरूप* है ।

* जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश दोनों ही जड़ हैं, तथापि प्रकाश
अन्धकाररूप आवरणको दूर करनेमें समर्थ है, इसी प्रकार यद्यपि अज्ञान और
अन्तःकरण दोनों ही समानरूपसे जड़ हैं तो भी प्रत्यय (विभिन्न प्रतीतियोंके)
रूपमें परिणत हुआ अन्तःकरण अज्ञानका नाश करनेमें समर्थ है और इस
प्रकार वह आत्माका प्रकाशक (ज्ञान करानेवाला) है । इसी बातको आगेके
भाष्यसे स्पष्ट करते हैं ।

यथा चालोकविशिष्टा घटा-
द्युपलब्धिरेवं बुद्धिप्रत्ययालोक-
विशिष्टात्मोपलब्धिः स्यात्तस्मा-
दुपलब्धिहेतौ गुहायां निहित-
मिति प्रकृतमेव । तद्वृत्तिस्था-
नीये त्विह पुनस्तत्सृष्ट्वा तदेवा-
नुप्राविशदित्युच्यते ।

तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं
सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां
बुद्धौ द्रष्टुं श्रोतुं मन्तुं विज्ञात्रित्येवं
विशेषवदुपलभ्यते । स एव तस्य
प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म ।
अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं
तत् ।

तत्कार्यमनुप्रविश्य, किम् ?

तस्य सच्च मूर्तं त्यच्चामूर्त-
सार्वात्म्यम् भवति । मूर्तामूर्ते
ह्यव्याकृतनामरूपे आत्मस्थे
अन्तर्गतेनात्मना व्याक्रियेते
व्याकृते मूर्तामूर्तशब्दवाच्ये । ते

जिस प्रकार कि प्रकाशयुक्त
घटादिकी उपलब्धि होती है उसी
प्रकार बुद्धिके प्रत्ययरूप प्रकाशसे
युक्त आत्माका अनुभव होता है ।
अतः उपलब्धिकी हेतुभूत गुहामें
वह निहित है—इसी बातका यह
प्रसङ्ग है । उसकी वृत्ति (व्याख्या)
के रूपमें ही श्रुतिद्वारा 'उसे रचकर
वह पीछेसे उसीमें प्रवेश कर गया'
ऐसा कहा गया है ।

इस प्रकार इस कार्यवर्गको
रचकर इसमें अनुप्रविष्ट-सा हुआ
आकाशादिका कारणरूप वह ब्रह्म
ही बुद्धिरूप गुहामें द्रष्टा, श्रोता,
मन्ता और विज्ञाता—ऐसा सविशेष-
रूप-सा ज्ञान पड़ता है । यही
उसका प्रवेश करना है । अतः
वह ब्रह्म कारण है; इसलिये उसका
अस्तित्व होनेके कारण उसे 'है'
इस प्रकार ही ग्रहण करना चाहिये ।

उसने कार्यमें अनुप्रवेश करके
फिर क्या किया ? वह सत्—मूर्त
और असत्—अमूर्त हो गया । जिन-
के नाम और रूपकी अभिव्यक्ति
नहीं हुई है, वे मूर्त और अमूर्त तो
आत्मामें ही रहते हैं । उन 'मूर्त'
एवं 'अमूर्त' शब्दवाच्य पदार्थोंको
उनका अन्तर्वर्ती आत्मा केवल
अभिव्यक्त कर देता है । उनके

आत्मना त्वप्रविभक्तदेशकाले
इति कृत्वात्मा ते अभवदित्यु-
च्यते ।

किं च निरुक्तं चानिरुक्तं च।
निरुक्तं नाम निष्कृष्य समाना-
समानजातीयेभ्यो देशकाल-
विशिष्टतयेदं तदित्युक्तमनिरुक्तं
तद्विपरीतं निरुक्तानिरुक्ते अपि
मूर्तामूर्तयोरेव विशेषणे । यथा
सच्च त्यच्च प्रत्यक्षपरोक्षे, तथा
निलयनं चानिलयनं च । निल-
यनं नीडमाश्रयो मूर्तस्यैव धर्मः ।
अनिलयनं तद्विपरीतममूर्तस्यैव
धर्मः ।

त्यदनिरुक्तानिलयनान्यमूर्त-
धर्मत्वेऽपि व्याकृतविषयाण्येव ।
सर्गोत्तरकालभावश्रवणात् । त्य-
दिति प्राणाद्यनिरुक्तं तदेवानि-
लयनं च । अतो विशेषणान्य-

देश और काल आत्मासे अभिन्न हैं
—इसीलिये 'आत्मा ही मूर्त और
अमूर्त हुआ' ऐसा कहा जाता है ।

तथा वही निरुक्त और अनिरुक्त
भी हुआ । निरुक्त उसे कहते हैं
जिसे सजातीय और विजातीय
पदार्थोंसे अलग करके देश-काल-
विशिष्टरूपसे 'वह यह है' ऐसा
कहा जाय । इससे विपरीत लक्षणों-
वालेको 'अनिरुक्त' कहते हैं ।
निरुक्त और अनिरुक्त भी मूर्त और
अमूर्तके ही विशेषण हैं । जिस
प्रकार 'सत्' और 'त्यत्' क्रमशः
'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष' को कहते हैं
उसी प्रकार 'निलयन' और 'अनि-
लयन' भी समझने चाहिये ।
निलयन—नीड अर्थात् आश्रय
मूर्तका ही धर्म है और उससे
विपरीत अनिलयन अमूर्तका ही
धर्म है ।

त्यत्, अनिरुक्त और अनिलयन—
ये अमूर्तके धर्म होनेपर भी व्याकृत
(व्यक्त) से ही सम्बन्ध रखनेवाले
हैं, क्योंकि इनकी सत्ता सृष्टिके
अनन्तर ही सुनी गयी है । त्यत्—
यह प्राणादि अनिरुक्तका नाम है;
वही अनिलयन भी है । अतः ये

मूर्तस्य व्याकृतविषयाण्येवैतानि ।

विज्ञानं चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतनं पाषाणादि सत्यं च व्यवहारविषयमधिकारान्न परमार्थसत्यम् । एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म । इह पुनर्व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यम्, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते । अनृतं च तद्विपरीतम् । किंपुनः ? एतत्सर्वमभवत्, सत्यं परमार्थसत्यम् । किंपुनस्तत् ? ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति प्रकृतत्वात् ।

यस्मात्सत्यदादिकं मूर्तामूर्त-धर्मजातं यत्किंचेदं सर्वमविशिष्टं विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माभवत्तद्व्यतिरेकेणाभावान्नामरूपविकारस्य, तस्मात्तद्ब्रह्म सत्यमित्याचक्षते ब्रह्मविदः ।

अस्ति नास्तीत्यनुश्रवः प्रकृतः तस्य प्रतिवचनविषय एतदुक्त-

अमूर्तके विशेषण व्याकृतविषयक ही हैं ।

विज्ञान यानी चेतन, अविज्ञान—उससे रहित अचेतन पाषाणादि और सत्य—व्यवहारसम्बन्धी सत्य, क्योंकि यहाँ व्यवहारका ही प्रसंग है, परमार्थ सत्य नहीं; परमार्थ सत्य तो एकमात्र ब्रह्म ही है; यहाँ तो केवल व्यवहारविषयक आपेक्षिक सत्यसे ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्यकी अपेक्षासे जल आदिको सत्य कहा जाता है तथा अनृत—उस (व्यावहारिक सत्य) से विपरीत । सो फिर क्या ? ये सब वह सत्य—परमार्थ सत्य ही हो गया । वह परमार्थ सत्य है क्या ? वह ब्रह्म है, क्योंकि 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त है' इस प्रकार उसीका प्रकरण है ।

क्योंकि सत्-त्यत् आदि जो कुछ मूर्त-अमूर्त धर्मजात है वह सामान्य-रूपसे सारा ही विकार एकमात्र 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म ही हुआ है—क्योंकि उससे भिन्न नाम-रूप विकारका सर्वथा अभाव है—इसलिये ब्रह्मवादीलोग उस ब्रह्मको 'सत्य' ऐसा कहकर पुकारते हैं ।

'ब्रह्म है या नहीं' इस अनुश्रवका यहाँ प्रसंग था । उसके उत्तरमें यह

मात्माकामयत बहु स्यामिति । स
यथाकामं चाकाशादिकार्यं सत्य-
दादिलक्षणं सृष्ट्वा तदनु प्रविश्य
पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्
ब्रह्मभवत्तस्मात्तदेवेदमाकाशादि-
कारणं कार्यस्थं परमे व्योमन्
हृदयगुहायां निहितं तत्प्रत्ययाव-
भासविशेषेणोपलभ्यमानमस्ति
इत्येवं विजानीयादित्युक्तं भवति ।

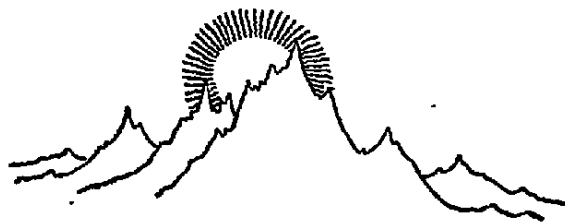
तदेतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणोक्त एष
श्लोको मन्त्रो भवति । यथा
पूर्वेषु अन्नमयाद्यात्मप्रकाशकाः
पञ्चस्वप्येवं सर्वान्तरतमात्मास्ति-
त्वप्रकाशकोऽपि मन्त्रः कार्य-
द्वारेण भवति ॥ १ ॥

कहा गया था—‘आत्माने कामना की
कि मैं बहुत हो जाऊँ’ । वह अपनी
कामनाके अनुसार सत्-त्यत् आदि
लक्षणोंवाले आकाशादि कार्यवर्गको
रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो द्रष्टा,
श्रोता, मन्ता और विज्ञातारूपसे
बहुत हो गया । अतः आकाशादि-
के कारण, कार्यवर्गमें स्थित,
परमाकाशके भीतर बुद्धिरूप गुहामें
छिपे हुए और उसके कर्त्ता-भोक्तादि-
रूप जो प्रत्ययावभास हैं उनके द्वारा
विशेषरूपसे उपलब्ध होनेवाले उस
ब्रह्मको ही ‘वह है’ इस प्रकार जाने-
ऐसा कहा गया ।

उस इस ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही
यह श्लोक यानी मन्त्र है । जिस
प्रकार पूर्वोक्त पाँच पर्यायोंमें अन्नमय
आदि कोशोंके प्रकाशक श्लोक थे
उसी प्रकार सबकी अपेक्षा आन्तरतम
आत्माके अस्तित्वको उसके कार्यद्वारा
प्रकाशित करनेवाला भी यह मन्त्र
है ॥ १ ॥



इति ब्रह्मानन्दवल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥



सूक्ष्म अनुष्णक

ब्रह्मकी सुकृतता एवं आनन्दरूपताका तथा ब्रह्मवेत्ताकी
अभयप्राप्तिका वर्णन

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।
तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।
यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी
भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश
आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । यदा ह्येवैष एत-
स्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ।
अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदर-
मन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं
विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

पहले यह [जगत्] असत् (अव्याकृत ब्रह्मरूप) ही था ।
उसीसे सत् (नाम-रूपात्मक व्यक्त) की उत्पत्ति हुई । उस असत्ने
स्वयं अपनेको ही [नाम-रूपात्मक जगद्रूपसे] रचा । इसलिये वह
सुकृत (स्वयं रचा हुआ) कहा जाता है । वह जो प्रसिद्ध सुकृत है
सो निश्चय रस ही है । इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है ।
यदि हृदयाकाशमें स्थित यह आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता
तो कौन व्यक्ति अपान-क्रिया करता और कौन प्राणन-क्रिया करता ?
यही तो उन्हें आनन्दित करता है । जिस समय यह साधक इस अदृश्य,
अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्ममें अभय-स्थिति प्राप्त करता है उस

समय यह अभयको प्राप्त हो जाता है; और जब यह इसमें थोड़ा-सा भी भेद करता है तो इसे भय प्राप्त होता है। वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान्के लिये भयरूप है। इसी अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत् ।

असच्छब्द- असदिति व्याकृत-
वाच्याव्याकृता- नामरूपविशेषविप-
जगदुत्पत्तिः रीतरूपमव्याकृतं

ब्रह्मोच्यते । न पुनरत्यन्तमेवा-
सत् । न ह्यसतः सञ्जन्मास्ति ।
इदमिति नामरूपविशेषवद्व्याकृतं
जगदग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मेवास-
च्छब्दवाच्यमासीत् । ततोऽसतो
वै सत्प्रविभक्तनामरूपविशेष-
मजायतोत्पन्नम् ।

किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति
पितुरिव पुत्रः, नेत्याह । तदस-
च्छब्दवाच्यं स्वयमेवात्मानमेवा-
कुरुत कृतवत् । यस्मादेवं तस्मा-
द्ब्रह्मैव सुकृतं स्वयंकर्तुं च्यते ।
स्वयंकर्तुं ब्रह्मेति प्रसिद्धं लोके
सर्वकारणत्वात् ।

पहले यह [जगत्] असत् ही
था । 'असत्' इस शब्दसे, जिनके
नाम-रूप व्यक्त हो गये हैं उन
विशेष पदार्थोंसे विपरीत स्वभाववाला
अव्याकृत ब्रह्म कहा जाता है ।
इससे [वन्व्यापुत्रादि] अत्यन्त
असत् पदार्थ बतलाये जाने अभीष्ट
नहीं हैं, क्योंकि असत्से सत्का
जन्म नहीं हो सकता । 'इदम्'
अर्थात् नाम-रूप विशेषसे युक्त
व्याकृत जगत् अग्रे-पहले अर्थात्
उत्पत्तिसे पूर्व 'असत्' शब्दवाच्य
ब्रह्म ही था । उस असत्से ही
सत् यानी जिसके नाम-रूपका
विभाग हो गया है उस विशेषकी
उत्पत्ति हुई ।

तो क्या पितासे पुत्रके समान
यह कार्यवर्ग उस [ब्रह्मसे] विभिन्न
है ? इसपर श्रुति कहती है—'नहीं';
उस 'असत्' शब्दवाच्य ब्रह्मने स्वयं
अपनेको ही रचा । क्योंकि ऐसी
बात है इसलिये वह ब्रह्म ही सुकृत
अर्थात् स्वयंकर्ता कहा जाता है,
सबका कारण होनेसे ब्रह्म स्वयंकर्ता
है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध है ।

यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्वं
 सर्वात्मना तस्मात्पुण्यरूपेणापि
 तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतमुच्यते ।
 सर्वथापि तु फलसंबन्धादि-
 कारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं
 लोके । यदि पुण्यं यदि वान्यत्सा
 प्रसिद्धिर्नित्यं चेतनवत्कारणे
 सत्युपपद्यते । तस्मादस्ति तद्ब्रह्म
 सुकृतप्रसिद्धेः । इतश्चास्ति ।
 कुतः ? रसत्वात् । कुतो रसत्व-
 प्रसिद्धिर्ब्रह्मण इत्यत आह—

यद्वै तत्सुकृतम् । रसो वै
 ब्रह्मणो रसः । रसो नाम
 रसस्वरूपस्त्वन् तृप्तिहेतुरानन्दकरो
 मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके ।
 रसमेवायं लब्ध्वा प्राप्यानन्दी
 सुखी भवति । नासत आनन्द-
 हेतुत्वं दृष्टं लोके । बाह्यानन्द-
 साधनरहिता अप्यनीहा निरेपणा

अथवा, क्योंकि सर्वरूप होने-
 से ब्रह्मने स्वयं ही इस सम्पूर्ण
 जगत्की रचना की है, इसलिये
 पुण्यरूपसे भी उसका कारणरूप
 वह ब्रह्म 'सुकृत' कहा जाता है ।
 लोकमें जो कार्य [पुण्य अथवा
 पाप] किसी भी प्रकारसे फलके
 सम्बन्धादिका कारण होता है वही
 'सुकृत' शब्दके वाच्यरूपसे प्रसिद्ध
 होता है । वह प्रसिद्धि चाहे पुण्य-
 रूपा हो और चाहे पापरूपा किसी
 नित्य और सचेतन कारणके होनेपर
 ही हो सकती है । अतः उस
 सुकृतरूप प्रसिद्धिकी सत्ता होनेसे
 यह सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म है ।
 ब्रह्म इसलिये भी है; किस लिये ? रस-
 स्वरूप होनेके कारण । ब्रह्मकी
 रसस्वरूपताकी प्रसिद्धि किस कारण-
 से है—इसपर श्रुति कहती है—

जो भी वह प्रसिद्ध सुकृत है वह
 निश्चय रस ही है । खट्टा-भीठा
 आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद
 पदार्थ लोकमें 'रस' नामसे प्रसिद्ध
 है ही । इस रसको ही पाकर पुरुष
 आनन्दी अर्थात् सुखी हो जाता है ।
 लोकमें किसी असत् पदार्थकी
 आनन्दहेतुता कभी नहीं देखी गयी ।
 ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष विद्वान्
 बाह्यसुखके साधनसे रहित होनेपर

ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सा-
नन्दा दृश्यन्ते विद्वांसः; नूनं
ब्रह्मेव रसस्तेषाम् । तस्मादस्ति
तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म ।

इतश्चास्ति; कुतः ? प्राणनादि-
क्रियादर्शनात् । अयमपि हि
पिण्डो जीवतः प्राणेन प्राणित्य-
पानेनापानिति । एवं वायवीया
ऐन्द्रियकाश्च चेष्टाः संहतैः कार्य-
करणैर्निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते ।
तच्चैकार्यवृत्तित्वेन संहननं नान्त-
रेण चेतनमसंहतं संभवति ।
अन्यत्रादर्शनात् ।

तदाह—तद्यदि एष आकाशे
परमे व्योम्नि गुहायां निहित
आनन्दो न स्यान्न भवेत्को ह्येव
लोकेऽन्यादपानचेष्टां कुर्यादि-
त्यर्थः । कः प्राण्यात्प्राणनं वा
कुर्यात्तस्मादस्ति तद्ब्रह्म । यदर्थः

भी बाह्य रसके लाभसे आनन्दित
होनेके समान आनन्दयुक्त देखे जाते
हैं । निश्चय उनका रस ब्रह्म ही है ।
अतः रसके समान उनके आनन्दका
कारणरूप वह ब्रह्म है ही ।

इसलिये भी ब्रह्म है; किसलिये ?
प्राणनादि क्रियाके देखे जानेसे ।
जीवित पुरुषका यह पिण्ड भी प्राणकी
सहायतासे प्राणन करता है और
अपान वायुके द्वारा अपानक्रिया
करता है । इसी प्रकार संघातको
प्राप्त हुए इन शरीर और इन्द्रियोंके
द्वारा निष्पन्न होती हुई और भी
वायु और इन्द्रियसम्बन्धिनी चेष्टाएँ
देखी जाती हैं । वह वायु आदि
अचेतन पदार्थोंका एकही उद्देश्यकी
सिद्धिके लिये परस्पर संहत (अनु-
कूल) होना किसी असंहत (किसी-
से भी न मिले हुए) चेतनके बिना
नहीं हो सकता, क्योंकि और कहीं
ऐसा देखा नहीं जाता ।

इसी बातको श्रुति कहती है—
यदि आकाश—परमाकाश अर्थात्
बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ यह
आनन्द न होता तो लोकमें कौन
अपान-क्रिया करता और कौन
प्राणन कर सकता; इसलिये वह
ब्रह्म है ही, जिसके लिये कि शरीर

कार्यकरणप्राणनादिचेष्टास्तत्कृत
एव चानन्दो लोकस्य ।

कुतः ? एष ह्येव पर आत्मा
आनन्दयात्यानन्दयति सुखयति
लोकं धर्मानुरूपम् । स एवात्मा-
नन्दरूपोऽविद्यया परिच्छिन्नो
विभाव्यते प्राणिभिरित्यर्थः ।
भयाभयहेतुत्वाद्ब्रह्मद्विदुषोरस्ति
तद्ब्रह्म । सद्वत्त्वाश्रयणेन ह्यभयं
भवति । नासद्वत्त्वाश्रयणेन
भयनिवृत्तिरुपपद्यते ।

कथमभयहेतुत्वमित्युच्यते—

ब्रह्मणोऽभय- यदा ह्येव यस्मादेप
हेतुत्वम् साधक एतस्मिन्ब्र-

ह्मणि किंविशिष्टेऽदृश्ये दृश्यं नाम
द्रष्टव्यं विकारो दर्शनार्थत्वाद्ब्र-
कारस्य । न दृश्यमदृश्यमविकार
इत्यर्थः । एतस्मिन्नदृश्येऽविकारे-
ऽविषयभूते अनात्म्येऽशरीरे ।
यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्यं

और इन्द्रियकी प्राणन आदि चेष्टाएँ
हो रही हैं; और उसीका किया हुआ
लोकका आनन्द भी है ।

ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह
परमात्मा ही लोकको उसके धर्मा-
नुसार आनन्दित—सुखी करता है ।
तात्पर्य यह है कि वह आनन्दरूप
आत्मा ही प्राणियोंद्वारा अविद्यासे
परिच्छिन्न भावना किया जाता है ।
अविद्वान्के भय और विद्वान्के
अभयका कारण होनेसे भी ब्रह्म है,
क्योंकि किसी सत्य पदार्थके आश्रयसे
ही अभय हुआ करता है, असद्वस्तुके
आश्रयसे भयकी निवृत्ति होनी सम्भव
नहीं है ।

ब्रह्मका अभयहेतुत्व किस प्रकार
है, सो बतलाया जाता है—क्योंकि
जिस समय भी यह साधक इस
ब्रह्ममें [प्रतिष्ठा—स्थिति अर्थात्
आत्मभाव प्राप्त कर लेता है ।]
किन विशेषणोंसे युक्त ब्रह्ममें ?
अदृश्यमें—दृश्य देखे जानेवाले अर्थात्
विकारका नाम है क्योंकि विकार
देखे जानेके ही लिये है; जो दृश्य न
हो उसे अदृश्य अर्थात् अविकार
कहते हैं । इस अदृश्य—अविकारी
अर्थात् अविषयभूत, अनात्म्य—अ-
शरीरमें । क्योंकि वह अदृश्य है
इसलिये अशरीर भी है और क्योंकि

यस्मादनात्म्यं तस्मादनिरुक्तम् ।
 विशेषो हि निरुच्यते विशेषश्च
 विकारः । अविकारं च ब्रह्म,
 सर्वविकारहेतुत्वाच्चस्मादनिरुक्त-
 म् । यत एवं तस्मादनिलयनं
 निलयनं नीड आश्रयो न
 निलयनमनिलयनमनाधारं तस्मि-
 न्नेतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-
 ऽनिलयने सर्वकार्यधर्मविलक्षणे
 ब्रह्मणीति वाक्यार्थः । अभयमिति
 क्रियाविशेषणम् । अभयमिति वा
 लिङ्गान्तरं परिणम्यते । प्रतिष्ठां
 स्थितिमात्मभावं विन्दते लभते ।
 अथ तदा स तस्मिन्नानात्वस्य
 भयहेतोरविद्याकृतस्यादर्शनाद-
 भयं गतो भवति ।

स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा
 भवति तदा नान्यत्पश्यति ना-

अशरीर है इसलिये अनिरुक्त हैं ।
 निरूपण विशेषका ही किया जाता
 है और विशेष विकार ही होता है;
 किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण विकारका कारण
 होनेसे स्वयं अविकार ही है, इसलिये
 वह अनिरुक्त है । क्योंकि ऐसा है
 इसलिये वह अनिलयन है; निलयन
 आश्रयको कहते हैं; जिसका निलयन
 न हो वह अनिलयन यानी अनाश्रय
 है । उस इस अदृश्य, अनात्म्य,
 अनिरुक्त और अनिलयन अर्थात्
 सम्पूर्ण कार्यधर्मोंसे विलक्षण ब्रह्ममें
 अभय प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आत्म-
 भावको प्राप्त करता है । उस समय
 उसमें भयके हेतुभूत नानात्वको न
 देखनेके कारण अभयको प्राप्त हो
 जाता है । मूलमें 'अभयम्' यह
 क्रियाविशेषण है * अथवा इसे
 'अभयाम्' इस प्रकार अन्य (स्त्री)
 लिङ्गके रूपमें परिणत कर लेना
 चाहिये ।

जिस समय यह अपने स्वरूपमें
 स्थित हो जाता है उस समय यह

* अर्थात् अभयरूपसे प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आत्मभाव प्राप्त कर लेता है ।

न्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति ।
 अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति
 नात्मन एवात्मनो भयं युक्तम् ।
 तस्मादात्मैवात्मनोऽभयकारणम् ।
 सर्वतो हि निर्भया ब्राह्मणा
 दृश्यन्ते सत्सु भयहेतुषु तच्चा-
 युक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि ।
 तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तद-
 भयकारणं ब्रह्मेति ।

कदासावभयं गतो भवति

भेददर्शनमेव साधको यदा ना-
 भयहेतुः न्यत्पश्यत्यात्मनि

चान्तरं भेदं न कुरुते तदाभयं
 गतो भवतीत्यभिप्रायः । यदा
 पुनरविद्यावस्थायां हि यस्मा-
 देषोऽविद्यावानविद्यया प्रत्युप-
 स्थापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीय-
 चन्द्रवत्पश्यत्यात्मनि चैतस्मिन्
 ब्रह्मणि उदपि, अरमल्पमप्यन्तरं
 छिद्रं भेददर्शनं कुरुते । भेददर्शन-

न तो और कुछ देखता है, न और
 कुछ सुनता है और न और कुछ
 जानता ही है । अन्यको ही अन्यसे
 भय हुआ करता है, आत्मासे आत्मा-
 को भय होना सम्भव नहीं है ।
 अतः आत्मा ही आत्माके अभयका
 कारण है । ब्राह्मण लोग (ब्रह्मनिष्ठ
 पुरुष) भयके कारणोंके रहते हुए
 भी सब ओरसे निर्भय दिखायी देते
 हैं । किन्तु भयसे रक्षा करनेवाले
 ब्रह्मके न होनेपर ऐसा होना
 असम्भव था । अतः उन्हें निर्भय
 देखनेसे यह सिद्ध होता है कि
 अभयका हेतुभूत ब्रह्म है ही ।

यह साधक कब अभयको प्राप्त
 होता है ? [ऐसा प्रश्न होनेपर
 कहते हैं—] जिस समय यह अन्य
 कुछ नहीं देखता और अपने आत्मामें
 किसी प्रकारका अन्तर-भेद नहीं
 करता उस समय ही यह अभयको
 प्राप्त होता है—यह इसका तात्पर्य
 है । किन्तु जिस समय अविद्यावस्था-
 में यह अविद्याग्रस्त जीव तिमिररोगी-
 को दिखायी देनेवाले दूसरे चन्द्रमाके
 समान अविद्याद्वारा प्रस्तुत किये हुए
 पदार्थोंको देखता है तथा इस आत्मा
 यानी ब्रह्ममें थोड़ा-सा भी अन्तर-
 छिद्र अर्थात् भेददर्शन करता है—

मेव हि भयकारणमल्पमपि भेदं
पश्यतीत्यर्थः । अथ तस्माद्भेददर्श-
नाद्भेतोरस्य भेददर्शिन आत्मनो
भयं भवति । तस्मादात्मैवात्मनो
भयकारणमविदुषः ।

तदेतदाह । तद्ब्रह्म त्वेव भयं
भेददर्शिनो विदुष ईश्वरोऽन्यो
मत्तोऽहमन्यः संसारी इत्येवं
विदुषो भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव
ब्रह्माल्पमप्यन्तरं कुर्वतो भयं
भवत्येकत्वेनामन्वानस्य । तस्मा-
द्विद्वानप्यविद्वानेवासौ योऽयमे-
कमभिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यति ।

उच्छेदहेतुदर्शनाद्व्युच्छेद्या-
भिमतस्य भयं भवति । अनु-
च्छेद्यो ह्युच्छेदहेतुस्तत्रासत्युच्छेद-
हेतावुच्छेद्ये न तद्दर्शनकार्यं भयं

भेददर्शन ही भयका कारण है, अतः
तात्पर्य यह है कि यदि यह थोड़ा-सा
भी भेद देखता है—तो उस आत्माके
भेददर्शनरूप कारणसे उसे भय होता
है । अतः अज्ञानीके लिये आत्मा ही
आत्माके भयका कारण है ।

यहाँ श्रुति इसी बातको कहती
है—भेददर्शी विद्वान्के लिये वह ब्रह्म
ही भयरूप है । मुझसे भिन्न ईश्वर
और है तथा मैं संसारी जीव और
हूँ इस प्रकार उसमें थोड़ा-सा भी
अन्तर करनेवाले उसे एकरूपसे
न माननेवाले विद्वान् (भेदज्ञानी)
के लिये वह भेदरूपसे देखा गया
ईश्वरसंज्ञक ब्रह्म ही भयरूप हो
जाता है । अतः जो पुरुष एक
अभिन्न आत्मतत्त्वको नहीं देखता
वह विद्वान् होनेपर भी अविद्वान्
ही है ।

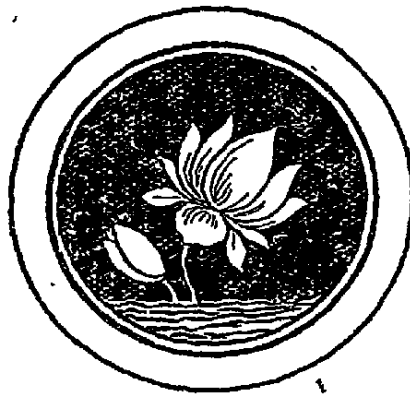
अपनेको उच्छेद्य (नाशवान्)
माननेवालेको ही उच्छेदका कारण
देखनेसे भय हुआ करता है ।
उच्छेदका कारण तो अनुच्छेद्य
(अविनाशी) ही होता है । अतः
यदि कोई उच्छेदका कारण न होता
तो उच्छेद्य पदार्थोंमें उसके देखनेसे

युक्तम् । सर्वं च जगद्भयवद्-
दृश्यते । तस्माज्जगतो भयदर्श-
नाद्भयते नूनं तदस्ति भयकारण-
मुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकं यतो
जगद्विभेतीति । तदेतस्मिन्नप्यर्थ
एष श्लोको भवति ॥ १ ॥

होनेवाला भय सम्भव नहीं था ।
किन्तु सारा ही संसार भययुक्त
देखा जाता है । अतः जगत्को
भय होता देखनेसे जाना जाता है
कि उसके भयका कारण उच्छेदका
हेतुभूत किन्तु स्वयं अनुच्छेद्यरूप
ब्रह्म है, जिससे कि जगत् भय
मानता है । इसी अर्थमें यह श्लोक
भी है ॥ १ ॥



इति ब्रह्मानन्दवक्ष्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥



अष्टम अनुवाक

ब्रह्मानन्दके निरतिशयत्वकी भीमांसा ।

भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मा-
दग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति । सैषानन्दस्य
भीमांसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो
दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् ।
स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥ १ ॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य
चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः ।
स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितॄणां
चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक
आजानजानां देवानामानन्दः ॥ २ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां
देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः ।
ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवा-

नामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥ ३ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्या-
नन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाका-
महतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजा-
पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य
चाकामहतस्य ॥ ४ ॥

इसके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है
तथा इसीके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । अब यह
[इस ब्रह्मके] आनन्दकी मीमांसा है—साधु स्वभाववाला नवयुवक,
वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान् [कभी निराश न होनेवाला] तथा
अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसीकी यह धन-धान्यसे पूर्ण सम्पूर्ण
पृथिवी भी हो । [उसका जो आनन्द है] वह एक मानुष आनन्द है;
ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं ॥ १ ॥ वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक
आनन्द है तथा वह अकामहत (जो कामनासे पीड़ित नहीं है उस)
श्रोत्रियको भी प्राप्त है । मनुष्य-गन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं वही
देवगन्धर्वका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है ।
देवगन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं वही नित्यलोकमें रहनेवाले पितृगणका
एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । चिरलोक-
निवासी पितृगणके जो सौ आनन्द हैं वही आजानज देवताओंका एक
आनन्द है ॥ २ ॥ और वह अकामहत श्रोत्रियोंको भी प्राप्त है । आजानज
देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव देवताओंका, जो कि
[अग्निहोत्रादि] कर्म करके देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है और

वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । कर्मदेव देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही देवताओंका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्रका एक आनन्द है ॥ ३ ॥ तथा वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । इन्द्रके जो सौ आनन्द हैं वही वृहस्पतिका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । वृहस्पतिके जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापतिके एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्माका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है ॥ २-४ ॥

भीषा भयेनासाद्वातः पवते ।

भीषोदेति सूर्यः
ब्रह्मानुशासनम्

भीषासादग्निश्चेन्द्रश्च

मृत्युर्धावति पञ्चम इति । वाता-
दयो हि महार्हाः स्वयमीश्वराः
सन्तः पवनादिकार्येष्वामासवहु-
लेषु नियताः प्रवर्तन्ते । तद्युक्तं
प्रशास्तरि सतिः यस्मान्नियमेन
तेषां प्रवर्तनम् । तस्मादस्ति भय-
कारणं तेषां प्रशास्तु ब्रह्म ।
यतस्ते भृत्या इव राज्ञोऽस्मा-
द्ब्रह्मणो भयेन प्रवर्तन्ते । तच्च
भयकारणमानन्दं ब्रह्म ।

इसकी भीति अर्थात् भयसे वायु
चलता है, इसीकी भीतिसे सूर्य
उदित होता है और इसके भयसे
ही अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवाँ मृत्यु
दौड़ता है । वायु आदि देवगण
परमपूजनीय और स्वयं समर्थ होने-
पर भी अत्यन्त श्रमसाध्य चलने
आदिके कार्यमें नियमानुसार प्रवृत्त
हो रहे हैं । यह बात उनका कोई
शासक होनेपर ही सम्भव है ।
क्योंकि उनकी नियमसे प्रवृत्ति होती
है इसलिये उनके भयका कारण और
उनपर शासन करनेवाला ब्रह्म है ।
जिस प्रकार राजाके भयसे सेवक
लोग अपने-अपने कामोंमें लगे रहते
हैं उसी प्रकार वे इस ब्रह्मके भयसे
प्रवृत्त होते हैं, वह उनके भयका
कारण ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ।

१. पूर्वोक्त वायु आदिके क्रमसे गणना किये जानेपर पाँचवाँ होनेके कारण
मृत्युको पाँचवाँ कहा है ।

तस्यास्य ब्रह्मण आनन्दस्यैषा
 ब्रह्मानन्दा- मीमांसा विचारणा
 लोचनम् भवति । किमान-
 न्दस्य मीमांस्यमित्युच्यते ।
 किमानन्दो विषयविषयिसंबन्ध-
 जनितो लौकिकानन्दवदाहोस्वित्
 स्वाभाविक इत्येवमेपानन्दस्य
 मीमांसा ।

तत्र लौकिक आनन्दो बाह्या-
 ध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त
 उत्कृष्टः । स य एष निर्दिश्यते
 ब्रह्मानन्दानुगमार्थम् । अनेन हि
 प्रसिद्धेनानन्देन व्यावृत्तविषय-
 बुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं
 शक्यते ।

लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्द-
 स्यैव मात्रा अविद्यया तिरस्कृत-
 माणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां
 चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्म-
 वशाद्यथाविज्ञानं विषयादिसा-
 धनसंबन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च
 लोकेऽनवस्थितो लौकिकः संप-

उस इस ब्रह्मके आनन्दकी यह
 मीमांसा—विचारणा है । उस
 आनन्दकी क्या बात विचारणीय है,
 इसपर कहते हैं—‘क्या वह
 आनन्द लौकिक सुखकी भाँति
 विषय और विषयको ग्रहण करने-
 वालेके सम्बन्धसे होनेवाला है अथवा
 स्वाभाविक ही है ?’ इस प्रकार यही
 उस आनन्दकी मीमांसा है ।

उसमें जो लौकिक आनन्द बाह्य
 और शारीरिक साधन-सम्पत्तिके
 कारण उत्कृष्ट गिना जाता है
 ब्रह्मानन्दके ज्ञानके लिये यहाँ
 उसीका निर्देश किया जाता है ।
 इस प्रसिद्ध आनन्दके द्वारा ही
 जिसकी बुद्धि विषयोंसे हटी हुई
 है उस ब्रह्मवेत्ताको अनुभव होनेवाले
 आनन्दका ज्ञान हो सकता है ।

लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्दका
 ही अंश है । अविद्यासे विज्ञानके
 तिरस्कृत हो जानेपर और अविद्याका
 उत्कर्ष होनेपर प्राक्तन कर्मवश
 विषयादि साधनोंके सम्बन्धसे ब्रह्मा
 आदि जीवोंद्वारा अपने-अपने विज्ञाना-
 नुसार भावना किया जानेके कारण
 ही वह लोकमें अस्थिर और लौकिक

द्यते । स एवाविद्याकामकर्माप-
कर्षेण मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तर-
भूमिष्वकामहतचिद्वज्रोत्रियप्र-
त्यक्षो विभाव्यते शतगुणोत्तरो-
त्तरोत्कर्षेण यावद्विरण्यगर्भस्य
ब्रह्मण आनन्द इति । निरस्ते
त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे
विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण
एक आनन्दोऽद्वैतो भवतीत्येत-
मर्थं विभावयिष्यन्नाह ।

युवा प्रथमवयाः । साधुयुवेति
साधुश्चासौ युवा चेति यूनो
विशेषणम् । युवाप्यसाधुर्भवति
साधुरप्ययुवातो विशेषणं युवा
स्यात्साधुयुवेति । अध्यायको-
ऽधीतवेदः । आशिष्ठ आशास्त्वं-
तमः । दृढिष्ठो दृढतमः । बलिष्ठो
बलवत्तमः । एवमाध्यात्मिक-
साधनसंपन्नः । तस्येयं पृथिव्युर्वी

आनन्द हो जाता है । कामनाओंसे
पराभूत न होनेवाले विद्वान् श्रोत्रिय-
को प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला वह
ब्रह्मानन्द ही मनुष्य-गन्धर्व आदि
आगे-आगेकी भूमियोंमें हिरण्यगर्भ-
पर्यन्त अविद्या, कामना और कर्मका
छास होनेसे उत्तरोत्तर सौ-सौ गुने
उत्कर्षसे आविर्भूत होता है । तथा
विद्याद्वारा अविद्याजनित विषय-विषयि-
विभागके निवृत्त हो जानेपर वह
स्वाभाविक परिपूर्ण एक और अद्वैत
आनन्द हो जाता है—इसी अर्थको
समझानेके लिये श्रुति कहती है—

जो युवा अर्थात् पूर्ववयस्क,
साधुयुवा अर्थात् जो साधु भी हो और
युवा भी—इस प्रकार साधुयुवा
शब्द 'युवा' का विशेषण है; लोकमें
युवा भी असाधु हो सकता है और
साधु भी अयुवा हो सकता है,
इसीलिये 'जो युवा हो—साधुयुवा
हो' इस प्रकार विशेषणरूपसे कहा है ।
तथा अध्यायक—वेद पढ़ा हुआ,
आशिष्ठः—अत्यन्त आशावान्,
दृढिष्ठः—अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ—
अति बलवान् हो; इस प्रकार जो
इन आध्यात्मिक साधनोंसे सम्पन्न
हो; और उसीकी, यह धनसे अर्थात्

सर्वा वित्तस्य वित्तेनोपभोगसाधनेन दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्मसाधनेन संपन्ना पूर्णा राजा पृथिवीपतिरित्यर्थः । तस्य च य आनन्दः स एको मानुषो मनुष्याणां प्रकृष्ट एक आनन्दः ।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः ।

मानुषानन्दरच्छतगुणेनोत्कृष्टो

मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दो भवति ।

मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषा-

द्वन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः ।

ते ह्यन्तर्धानादिशक्तिसंपन्नाः

सूक्ष्मकार्यकरणाः । तस्मात्प्रति-

घाताल्पत्वं तेषां द्वन्द्वप्रतिघात-

शक्तिसाधनसंपत्तिश्च । ततो-

ऽप्रतिहन्यमानस्य प्रतीकारवतो

मनुष्यगन्धर्वस्य स्वाच्चित्तप्रसादः ।

तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभि-

उपभोगके साधनसे तथा लौकिक और पारलौकिक कर्मके साधनसे सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी हो-अर्थात् जो राजा यानी पृथिवीपति हो; उसका जो आनन्द है वह एक मानुष आनन्द यानी मनुष्योंका एक प्रकृष्ट आनन्द है ।

ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है । मानुष आनन्दसे मनुष्यगन्धर्वोंका आनन्द सौ गुना उत्कृष्ट होता है । जो पहले मनुष्य होकर फिर कर्म और उपासनाकी विशेषतासे गन्धर्वत्वको प्राप्त हुए हैं वे मनुष्य-गन्धर्व कहलाते हैं । वे अन्तर्धानादिकी शक्तिसे सम्पन्न तथा सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियोंसे युक्त होते हैं, इसलिये उन्हें [शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका] थोड़ा प्रतिघात होता है तथा वे द्वन्द्वोंका सामना करनेवाले सामर्थ्य और साधनसे सम्पन्न होते हैं । अतः उस शीतोष्णादि द्वन्द्वसे प्रतिहत न होनेवाले तथा [उसका आघात होनेपर] उसका प्रतीकार करनेमें समर्थ मनुष्यगन्धर्वको चित्त-प्रसाद प्राप्त होता है और उस प्रसादविशेषसे उसके सुखविशेषकी

व्यक्तिः । एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या
भूमेरुत्तरस्यामुत्तरस्यां भूमौ
प्रसादविशेषतः शतगुणेनानन्दो-
त्कर्ष उपपद्यते ।

प्रथमं त्वकामहताग्रहणं मनु-

ष्यविषयभोगकामानभिहतस्य

श्रोत्रियस्य मनुष्यानन्दाच्छत-

गुणेनानन्दोत्कर्षो मनुष्यगन्धर्वेण

तुल्यो वक्तव्य इत्येवमर्थम् ।

साधुयुवाध्यायक इति श्रोत्रिय-

त्वावृजिनत्वे गृह्यते । ते ह्यवि-

शिष्टे सर्वत्र । अकामहतत्वं तु

विषयोत्कर्षापकर्षतः सुखोत्कर्षा-

पकर्षाय विशेष्यते । अतोऽकाम-

हतग्रहणम्, तद्विशेषतः शतगुण-

अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार
पूर्व-पूर्व भूमि की अपेक्षा आगे-आगे-
की भूमि में प्रसाद की विशेषता होने-
से सौ-सौ गुने आनन्द का उत्कर्ष
होना सम्भव ही है ।

[आगे के सब वाक्यों के साथ
रहने वाला] 'श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य' यह वाक्य पहले [मानुष
आनन्द के साथ] इसलिये ग्रहण
नहीं किया गया कि विषय-भोग
और कामनाओं से व्याकुल न रहने-
वाले श्रोत्रिय के आनन्द का उत्कर्ष
मानुष आनन्द की अपेक्षा सौ गुना
अर्थात् मनुष्यगन्धर्व के आनन्द के
तुल्य बतलाना है । श्रुति में 'साधु-
युवा' और 'अध्यायक' ये दो विशेषण
[सार्वभौम राजा का] श्रोत्रियत्व
और निष्पापत्व प्रदर्शित करने के
लिये ग्रहण किये जाते हैं । इन्हें
आगे भी सब के साथ समान भाव से
समझना चाहिये । विषय के उत्कर्ष
और अपकर्ष से सुख का भी उत्कर्ष
और अपकर्ष होता है [किन्तु
कामनारहित पुरुष के लिये सुख का
उत्कर्ष या अपकर्ष हुआ नहीं
करता] इसीलिये अकामहतत्व की
विशेषता है । और इसी से
'अकामहत' पद ग्रहण किया गया
है । अतः उससे विशिष्ट पुरुष के-

सुखोत्कर्षोपलब्धेरकामहतत्वस्य
परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधाना-
र्थम् । व्याख्यातमन्यत् ।

देवगन्धर्वा जातित एव ।
चिरलोकलोकानामिति पितॄणां
विशेषणम् । चिरकालस्थायी
लोको येषां पितॄणां ते चिर-
लोकलोका इति । आजान इति
देवलोकस्तस्मिन्नाजाने जाता आ-
जानजा देवाः सार्तकर्मविशेषतो
देवस्थानेषु जाताः ।

कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणा-
ग्निहोत्रादिना केवलेन देवान-
पियन्ति । देवा इति त्रयस्त्रिंश-
द्विर्भुजः । इन्द्रस्तेषां स्वामी
तस्याचार्यो बृहस्पतिः । प्रजा-
पतिर्विराट् । त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा
समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डल-
व्यापी ।

यत्रैत आनन्दभेदा एकतां
गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तो ज्ञानं

सुखका सौगुना उत्कर्ष देखा जाता
है; अतः अकामहतत्वको परमानन्द-
की प्राप्तिका साधन बतलानेके लिये
'अकामहत' विशेषण ग्रहण किया
है । और सबकी व्याख्या पहले की
जा चुकी है ।

देवगन्धर्व-जो जन्मसे ही गन्धर्व
हों 'चिरलोकलोकानाम्' (चिरस्थायी
लोकमें रहनेवाले) यह पितृगणका
विशेषण है । जिन पितृगणका
चिरस्थायी लोक है वे चिरलोक-
लोक कहे जाते हैं । 'आजान'
देवलोकका नाम है, उस आजानमें
जो उत्पन्न हुए हैं वे देवगण
'आजानज' हैं, जो कि स्मार्त कर्म-
विशेषके कारण देवस्थानमें उत्पन्न
हुए हैं ।

जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक
कर्मसे देवभावको प्राप्त हुए हैं वे
'कर्मदेव' कहलाते हैं । जो तैत्तिरीय
देवगण यज्ञमें हविर्भाग लेनेवाले हैं
वे ही यहाँ 'देव' शब्दसे कहे गये हैं ।
उनका स्वामी इन्द्र है और इन्द्रका
गुरु बृहस्पति है । 'प्रजापति' का
अर्थ विराट् है, तथा त्रैलोक्यशरीर-
धारी ब्रह्मा है जो समष्टि-व्यष्टिरूप
और समस्त संसारमण्डलमें व्याप्त है ।

जहाँ ये आनन्दके भेद एकताको
प्राप्त होते हैं [अर्थात् एक
ही गिने जाते हैं] तथा जहाँ

च तद्विषयमकामहतत्वं च नि-
रतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भो
ब्रह्मा, तस्यैष आनन्दः श्रोत्रि-
येणावृजिनेनाकामहतेन च सर्वतः
प्रत्यक्षमुपलभ्यते । तस्मादेतानि
त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते ।
तत्र श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे
नियते अकामहतत्वं तूत्कृष्यत
इति प्रकृष्टसाधनतावगम्यते ।

तस्याकामहतत्वप्रकर्षतश्चोपल-
भ्यमानः श्रोत्रियप्रत्यक्षो ब्रह्मण
आनन्दो यस्य परमानन्दस्य
मात्रैकदेशः । “एतस्यैवानन्द-
स्थान्यानि भूतानि मात्रासुप-
जीवन्ति” (वृ० उ० ४ । ३
३२) इति श्रुत्यन्तरात् । स एष
आनन्दो यस्य मात्राः समुद्रात्मस
इव विभुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां

उससे होनेवाले धर्म एवं ज्ञान तथा
तद्विषयक अकामहतत्व सबसे बड़े
हुए हैं वह यह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मा
है । उसका यह आनन्द श्रोत्रिय,
निष्पाप और अकामहत पुरुषद्वारा
सर्वत्र प्रत्यक्ष उपलब्ध किया जाता
है । इससे यह जाना जाता है कि
[निष्पापत्व, अकामहतत्व और
श्रोत्रियत्व] ये तीन उसके साधन
हैं । इनमें श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व
तो नियत (न्यूनाधिक न होनेवाले)
धर्म हैं किन्तु अकामहतत्वका
उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है; इसलिये
यह प्रकृष्ट-साधनरूपसे जाना
जाता है ।

उस अकामहतत्वके प्रकर्षसे
उपलब्ध होनेवाला तथा श्रोत्रियको
प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला वह ब्रह्माका
आनन्द जिस परमानन्दकी मात्रा
अर्थात् केवल एकदेशमात्र है, जैसा
कि “इस आनन्दके लेशसे ही अन्य
प्राणी जीवित रहते हैं” इस अन्य
श्रुतिसे सिद्ध होता है, वह यह
हिरण्यगर्भका आनन्द, जिस-
की मात्राएँ (लेशमात्र आनन्द)
समुद्रके जलकी बूँदोंके समान
विभक्त हो पुनः उसमें एकत्वको

गताः स एष परमानन्दः स्वा-
भाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दि-
नोश्चाविभागोऽत्र ॥१-४॥

प्राप्त हुई हैं वही अद्वैतरूप होने-
से स्वाभाविक परमानन्द है । इसमें
आनन्द और आनन्दीका अमेद
है ॥ १-४ ॥



ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिका उपसंहार

तदेतन्मीमांसाफलमुपसंहियते-

अब इस मीमांसाके फलका
उपसंहार किया जाता है—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । स य
एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति ।
एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मान-
मुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एत-
मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको
भवति ॥ ५ ॥

वह, जो कि इस पुरुष (पञ्चकोशात्मक देह) में है और जो
यह आदित्यके अन्तर्गत है, एक है । वह, जो इस प्रकार जाननेवाला है,
इस लोक (दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूह) से निवृत्त होकर इस अन्नमय
आत्माको प्राप्त होता है [अर्थात् विषयसमूहको अन्नमय कोशसे पृथक्
नहीं देखता] । इसी प्रकार वह इस प्राणमय आत्माको प्राप्त होता है,
इस मनोमय आत्माको प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्माको प्राप्त
होता है एवं इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है । उसीके विषयमें
यह श्लोक है ॥ ५ ॥

यो गुहायां निहितः परमे

ब्रह्मात्मैक्योप-

संहारः

व्योम्याकाशादि-

कार्यं सृष्ट्वान्नमया-

जो आकाशसे लेकर अन्नमय
कोशपर्यन्त कार्यकी रचना करके
उसमें अनुप्रविष्ट हुआ परमाकाशके
भीतर बुद्धिरूप गुहामें स्थित है

न्तं तदेवानुप्रविष्टः स य इति निर्दिश्यते । कोऽसौ ? अयं पुरुषे, यश्चासावादित्ये यः परमानन्दः श्रोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टो यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि सुखार्हण्युपजीवन्ति स यश्चासावादित्य इति निर्दिश्यते । स एको भिन्नप्रदेशस्य घटाकाशैकत्ववत् ।

ननु तन्निर्देशे स यश्चायं पुरुष इत्यविशेषतोऽध्यात्मं न युक्तो निर्देशः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षमिति तु युक्तः, प्रसिद्धत्वात् ।

न, पराधिकारात् । परो ह्यात्मात्राधिकृतोऽदृश्येऽनात्म्ये भीपास्माद्वातः पवते सैपानन्दस्य भीमांसेति । न ह्यकस्मादप्रकृतो

उसीका 'स यः' (वह जो) इन पदोंद्वारा निर्देश किया जाता है । वह कौन है ? जो इस पुरुषमें है और जो श्रोत्रियके लिये प्रत्यक्ष बतलाया हुआ परमानन्द आदित्यमें है : जिसके एक देशके आश्रयसे ही सुखके पार्याभूत ब्रह्मा आदि जीव जीवन धारण करते हैं उसी आनन्दको 'स यश्चासावादित्ये' इन पदोंद्वारा निर्दिष्ट किया जाता है । भिन्न-प्रदेशस्थ घटाकाश और महाकाशके एकत्वके समान [उन दोनों उपाधियोंमें स्थित] वह आनन्द एक है ।

शंका—किन्तु उस आनन्दका निर्देश करनेमें 'वह जो इस पुरुषमें है' इस प्रकार सामान्यरूपसे अध्यात्म पुरुषका निर्देश करना उचित नहीं है, वल्कि 'जो इस दक्षिण नेत्रमें है' इस प्रकार कहना ही उचित है, क्योंकि ऐसा ही प्रसिद्ध है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँपर आत्माका अधिकरण है । 'अदृश्येऽनात्म्ये' 'भीपास्माद्वातः पवते' तथा 'सैपानन्दस्य भीमांसा' आदि वाक्योंके अनुसार यहाँ परमात्माका ही प्रकरण है । अतः जिसका कोई प्रसङ्ग नहीं है उस [दक्षिणनेत्रस्य

युक्तो निर्देष्टुम् । परमात्मविज्ञानं
च विवक्षितम् । तस्मात्पर एव
निर्दिश्यते 'स एकः' इति ।

नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता
तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम् ।
अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः
परमात्मैव न विषयविषयि-
संबन्धजनित इति ।

ननु तदनुरूप एवायं निर्देशः
'स यथायं पुरुषे यथासावादित्ये
स एकः' इति भिन्नाधिकरणस्थ-
विशेषोपमर्देन ।

नन्वेवमप्यादित्यविशेषग्रहण-
मनर्थकम् ।

नानर्थकम् , उत्कर्षापकर्षा-
पोहार्थत्वात् । द्वैतस्य हि मूर्ता-
मूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवि-
त्रभ्यन्तर्गतः स चेत्पुरुषगत-

पुरुष] का अकस्मात् निर्देश करना
उचित नहीं है । यहाँ परमात्माका
विज्ञान वर्णन करना ही अभीष्ट है;
इसलिये 'वह एक है' इस वाक्यसे
परमात्माका ही निर्देश किया
जाता है ।

शंका—यहाँ तो आनन्दकी
मीमांसाका प्रकरण है, इसलिये
उसके फलका उपसंहार भी करना
ही चाहिये, क्योंकि अखण्ड
और स्वाभाविक आनन्द परमात्मा
ही है, वह विषय और विषयीके
सम्बन्धसे होनेवाला आनन्द नहीं है ।

मध्यस्थ--'जो आनन्द इस पुरुषमें
है और जो इस आदित्यमें है वह
एक है' इस प्रकार भिन्न आश्रयोंमें
स्थित विशेषका निराकरण करके
जो निर्देश किया गया है वह तो
इस प्रसंगके अनुरूप ही है ।

शंका—किन्तु, इस प्रकार भी
'आदित्य' इस विशेष पदार्थका ग्रहण
करना व्यर्थ ही है ।

समाधान—उत्कर्ष और अपकर्षका
निषेध करनेके लिये होनेके कारण
यह व्यर्थ नहीं है । मूर्त और अमूर्तरूप
द्वैतका परम उत्कर्ष सूर्यके अन्तर्गत
है; वह यदि पुरुषगत विशेषके बाध-

विशेषोपमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य
समो भवति न कश्चिदुत्कर्षोऽप-
कर्षो वा तां गतिं गतस्येत्यभयं
प्रतिष्ठां विन्दत इत्युपपन्नम् ।

अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नो व्या-
ख्यातः । कार्यरस-
विचारः लाभप्राणनाभयप्र-
तिष्ठाभयदर्शनोपपत्तिभ्योऽस्त्येव
तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपा-
कृतोऽनुप्रश्न एकः । द्वावन्याव-
नुप्रश्नौ विद्वद्विदुषोर्ब्रह्मप्राप्त्य-
प्राप्तिविषयौ तत्र विद्वान्समश्नुते
न समश्नुत इत्यनुप्रश्नोऽन्त्यस्त-
दपाकरणायोच्यते । मध्यमोऽनु-
प्रश्नोऽन्त्यापाकरणादेवापाकृत
इति तदपाकरणाय न यत्यते ।

स यः कश्चिदेवं यथोक्तं ब्रह्म
उत्सृज्योत्कर्षापकर्षमद्वैतं सत्यं
ज्ञानमनन्तमसीत्येवं वेत्ती-

द्वारा परमानन्दकी अपेक्षा उसके
तुल्य ही सिद्ध होता है तो उस
गतिको प्राप्त हुए पुरुषका कोई
उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं रहता और
वह निर्भय स्थितिको प्राप्त कर लेता
है; अतः यह कथन उचित ही है ।

ब्रह्म है या नहीं—इस अनुप्रश्नकी
व्याख्या कर दी गयी । कार्यरूप
रसकी प्राप्ति, प्राणन, अभय-प्रतिष्ठा
और भयदर्शन आदि युक्तियोंसे वह
आकाशादिका कारणरूप ब्रह्म है
ही—इस प्रकार एक अनुप्रश्नका
निराकरण किया गया । दूसरे दो
अनुप्रश्न विद्वान् और अविद्वान्की
ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मकी अप्राप्तिके
विषयमें हैं । उनमें अन्तिम अनुप्रश्न
यही है कि ‘विद्वान् ब्रह्मको प्राप्त
होता है या नहीं ?’ उसका निरा-
करण करनेके लिये कहा जाता है ।
मध्यम अनुप्रश्नका निराकरण तो
अन्तिमके निराकरणसे ही हो
जायगा; इसलिये उसके निराकरणका
यत्न नहीं किया जाता ।

इस प्रकार जो कोई उत्कर्ष और
अपकर्षको त्यागकर ‘मैं ही उपर्युक्त
सत्य ज्ञान और अनन्तरूप अद्वैत ब्रह्म
हूँ’ ऐसा जानता है वह एवंवित्

त्येवंवित् । एवंशब्दस्य प्रकृत-
परामर्शार्थत्वात् । स किम् ?
अस्माल्लोकात्प्रेत्य दृष्टादृष्टेष्टवि-
षयसमुदायो ह्ययं लोकस्तस्मा-
ल्लोकात्प्रेत्य प्रत्यावृत्त्य निरपेक्षो
भूत्वैतं यथाव्याख्यातमन्नमय-
मात्मानमुपसंक्रामति । विषयजात-
मन्नमयात्पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं
न पश्यति । सर्वं स्थूलभूतमन्न-
मयमात्मानं पश्यतीत्यर्थः ।

ततोऽभ्यन्तरमेतं प्राणमयं
सर्वान्नमयात्मस्थमविभक्तम् ।
अथैतं मनोमयं विज्ञानमयमा-
नन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति ।
अथादृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिल-
यनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ।

तत्रैतच्चिन्त्यम् । कोऽयमेवं-
वृत्तीयानुप्रश्न- वित्कथं वा संक्राम-
विचारः तीति । किं परस्मा-
दात्मनोऽन्यः संक्रमणकर्ता प्रवि-
भक्त उत स एवेति ।

(इस प्रकार जाननेवाला) है, क्योंकि
'एवम्' शब्द प्रसंगमें आये हुए पदार्थ-
का परामर्श (निर्देश) करनेके
लिये हुआ करता है । वह एवंवित्
क्या [करता है ?] इस लोकसे
जाकर—दृष्ट और अदृष्ट इष्ट विषयों-
का समुदाय ही यह लोक है, उस
इस लोकसे प्रेत्य—प्रत्यावर्तन करके
(लौटकर) अर्थात् उससे निरपेक्ष
होकर इस ऊपर व्याख्या किये हुए
अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है ।
अर्थात् वह विषयसमूहको अन्नमय
शरीरसे भिन्न नहीं देखता; तात्पर्य
यह है कि सम्पूर्ण स्थूल भूतवर्गको
अन्नमय शरीर ही समझता है ।

उसके भीतर वह सम्पूर्ण अन्नमय
कोशोंमें स्थित विभागीन प्राणमय
आत्माको देखता है । और फिर
क्रमशः इस मनोमय, विज्ञानमय और
आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है ।
तत्पश्चात् वह इस अदृश्य, अशरीर,
अनिर्वचनीय, और अनाश्रय आत्मामें
अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है ।

अब यहाँ यह विचारना है कि
यह इस प्रकार जाननेवाला है कौन ?
और यह किस प्रकार संक्रमण करता
है ? वह संक्रमणकर्ता परमात्मासे
भिन्न है अथवा स्वयं वही है ।

किं ततः ?

यद्यन्यः स्याच्छ्रुतिविरोधः ।
 “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्”
 (तै० उ० २ । ६ । १) “अ-
 न्योऽसावन्योऽहमस्मीति । न स
 वेद” (बृ० उ० १ । ४ । १०)
 “एकमेवाद्वितीयम्” (छा० उ०
 ६ । २ । १) “तच्चमसि”
 (छा० उ० ६ । ८-१६) इति ।
 अथ स एव, आनन्दमयमात्मानमु-
 पसंक्रामतीति कर्मकर्तृत्वानुप-
 पत्तिः, परस्यैव च संसारित्वं
 पराभावो वा ।

यद्युभयथा प्राप्तो दोषो न
 परिहर्तुं शक्यत इति व्यर्थं
 चिन्ता । अथान्यतरस्त्रिपक्षे
 दोषाप्राप्तिस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टे
 स एव शास्त्रार्थ इति व्यर्थैव
 चिन्ता ।

न; तन्निर्धारणार्थत्वात् । सत्यं

पूर्व०—इस विचारसे क्या
 क्या है ?

सिद्धान्ती—यदि वह उससे भिन्न
 है तो “उसे रचकर उसमें अनुप्रविष्ट
 हो गया” “वह अन्य है और मैं
 अन्य हूँ—इस प्रकार जो कहता है
 वह नहीं जानता” “एक ही
 अद्वितीय” “तु वह है” इत्यादि
 श्रुतियोंसे विरोध होगा । और यदि
 वह स्वयं हो आनन्दमय आत्माको
 प्राप्त होता है तो उस [एक ही]
 में कर्म और कर्तापन दोनोंका होना
 असम्भव है, तथा परमात्माको ही
 संसारित्वकी प्राप्ति अथवा उसके
 परमात्मत्वका अभाव सिद्ध होता है ।

पूर्व०—यदि दोनोंही अवस्थाओं-
 में प्राप्त होनेवाले दोषका परिहार
 नहीं किया जा सकता तो उसका
 विचार करना व्यर्थ है और यदि
 किसी एक पक्षको स्वीकार कर लेनेसे
 दोषकी प्राप्ति नहीं होती अथवा
 कोई तीसरा निर्दोष पक्ष हो तो उसे
 ही शास्त्रका आशय समझना चाहिये ।
 ऐसी अवस्थामें भी विचार करना
 व्यर्थ ही होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह
 उसका निश्चय करनेके लिये है ।

प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तु-
मन्यतरसिस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टे-
ऽवधृते व्यर्था चिन्ता स्यान्न तु
सोऽवधृत इति तदवधारणार्थ-
त्वादर्थवत्येवैषा चिन्ता ।

सत्यमर्थवती चिन्ता शास्त्रा-
र्थवधारणार्थत्वात् । चिन्तयसि
च त्वं न तु निर्णेप्यसि,

किं न निर्णेतव्यमिति वेद-
वचनम् ?

न ।

कथं तर्हि ?

बहुप्रतिपक्षत्वात् । एकत्ववादी
त्वम्, वेदार्थपरत्वाद्, बहवो हि
नानात्ववादिनो वेदवाह्यास्त्व-
त्प्रतिपक्षाः । अतो ममाशङ्कां न
निर्णेप्यसीति ।

एतदेव मे स्वस्त्ययनं यन्मा-

यह ठीक है कि इस प्रकार प्राप्त
होनेवाला दोष निवृत्त नहीं किया
जा सकता तथा उपर्युक्त दोनों
पक्षोंमेंसे किसी एकका अथवा किसी
तीसरे निर्दोष पक्षका निश्चय हो
जानेपर भी यह विचार व्यर्थ ही
होगा । किन्तु उस पक्षका निश्चय
तो नहीं हुआ है; अतः उसका
निश्चय करनेके लिये होनेके कारण
यह विचार सार्थक ही है ।

पूर्व०—शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय
करनेके लिये होनेसे तो सचमुच
यह विचार सार्थक है, परन्तु तू तो
केवल विचार ही करता है, निर्णय
तो कुछ करेगा नहीं ।

सिद्धान्ती—निर्णय नहीं करना
चाहिये—ऐसा क्या कोई वेदवाक्य है ?

पूर्व०—नहीं ।

सिद्धान्ती—तो फिर निर्णय क्यों
नहीं होगा ?

पूर्व०—क्योंकि तेरा प्रतिपक्ष
बहुत है । वेदार्थपरायण होनेके
कारण तू तो एकत्ववादी है किन्तु
तेरे प्रतिपक्षी वेदवाह्य नानात्ववादी
बहुत हैं । इसलिये मुझे सन्देह है
कि तू मेरी शङ्काका निर्णय नहीं
कर सकेगा ।

सिद्धान्ती—तूने जो मुझे बहुत-से

मेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिप-
क्षमात्थ । अतो जेष्यामि सर्वान्;
आरभे च चिन्ताम् ।

स एव तु स्यात्तद्भावस्य वि-
वक्षितत्वात् । तद्विज्ञानेन परमा-
त्मभावो ह्यत्र विवक्षितो ब्रह्म-
विदामोति परमिति । न ह्यन्य-
स्यान्यभावापत्तिरुपपद्यते । ननु
तस्यापि तद्भावापत्तिरनुपपन्नैव ?
न; अविद्याकृततादात्म्यापो-
हार्यत्वात् । या हि ब्रह्मविद्या
स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते साविद्या-
कृतस्यान्नादिविशेषात्मन आत्म-
त्वेनाध्यारोपितस्यानात्मनोऽपो-
हार्या ।

कथमेवमर्थतावगम्यते ?

अनेकत्ववादी प्रतिपक्षियोंसे युक्त
एकत्ववादी बतलाया है—यही बड़े
मंगलकी बात है । अतः अब मैं
सबको जीत लूँगा; छे, मैं विचार
आरम्भ करता हूँ ।

वह संक्रमणकर्ता परमात्मा ही
है, क्योंकि यहाँ जीवको परमात्म-
भावकी प्राप्ति बतलानी अभीष्ट है ।
'ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता
है' इस वाक्यके अनुसार यहाँ ब्रह्म-
विज्ञानसे परमात्मभावकी प्राप्ति होती
है—यही प्रतिपादन करना इष्ट है ।
किसी अन्य पदार्थका अन्य पदार्थ-
भावको प्राप्त होना सम्भव नहीं है ।
यदि कहो कि उसका स्वयं अपने
स्वरूपको प्राप्त होना भी असम्भव
ही है, तो ऐसी बात नहीं है;
क्योंकि यह कथन केवल अविद्यासे
आरोपित अनात्म पदार्थोंका निषेध
करनेके लिये ही है । [तात्पर्य यह
है कि] ब्रह्मविद्याके द्वारा जो
अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्ति
उपदेश किया जाता है वह अविद्या-
कृत अन्नमयादि कोशरूप विशेषात्मा-
का अर्थात् आत्मभावसे आरोपित
किये हुए अनात्माका निषेध करनेके
लिये ही है ।

पूर्व०—उसका इस प्रयोजनके
लिये होना कैसे जाना जाता है ?

विद्यामात्रोपदेशात् । विद्या-
याश्च दृष्टं कार्यमविद्यानिवृत्ति-
स्तच्चेह विद्यामात्रमात्मप्राप्तिं
साधनमुपदिश्यते ।

मार्गविज्ञानोपदेशवदिति चे-
त्तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोप-
देशोऽहेतुः । कस्मात् ? देशान्तर-
प्राप्तिं मार्गविज्ञानोपदेशदर्श-
नात् । न हि ग्राम एव गन्तेति
चेत् ?

न, वैधर्म्यात् । तत्र हि ग्राम-
विषयं विज्ञानं नोपदिश्यते ।
तत्प्राप्तिमार्गविषयमेवोपदिश्यते

सिद्धान्ती—केवल ज्ञानका ही
उपदेश किया जानेके कारण ।
अज्ञानकी निवृत्ति—यह ज्ञानका
प्रत्यक्ष कार्य है, और यहाँ आत्माकी
प्राप्तिमें वह ज्ञान ही साधन बतलाया
गया है ।

पूर्व०—यदि वह मार्गविज्ञानके
उपदेशके समान हो तो ? [अब
इसीकी व्याख्या करते हैं—] केवल
ज्ञानका ही साधनरूपसे उपदेश
किया जाना उसकी परमात्मरूपतामें
कारण नहीं हो सकता । ऐसा
क्यों है ? क्योंकि देशान्तरकी प्राप्तिके
लिये भी मार्गविज्ञानका उपदेश होता
देखा गया है । ऐसी अवस्थामें ग्राम
ही गमन करनेवाला नहीं हुआ
करता—ऐसा माने तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं
क्योंकि वे दोनों समान धर्मवाले नहीं
हैं । * [तुमने जो दृष्टान्त दिया है]
उसमें ग्रामविषयक विज्ञानका उपदेश
नहीं दिया जाता, केवल उसकी
प्राप्तिके मार्गसे सम्बन्धित विज्ञान-

* ग्रामको जानेवाले और ब्रह्मको प्राप्त होनेवालेमें बड़ा अन्तर है । इसके
सिवा ग्रामको जानेवालेको जो मार्गके विज्ञानका उपदेश किया जाता है उसमें
यह नहीं कहा जाता कि 'तू अमुक ग्राम है' परन्तु ब्रह्मज्ञानका उपदेश तो 'तू
ब्रह्म है' इस अभेदसूचक वाक्यसे ही किया जाता है ।

विज्ञानम् । न तथेह ब्रह्मविज्ञानं
व्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं
विज्ञानमुपदिश्यते ।

उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्म-
विज्ञानं परब्राह्मणौ साधनमुप-
दिश्यत इति चेन्न; नित्य-
त्वान्मोक्षस्येत्यादिना प्रत्युक्त-
त्वात् । श्रुतिश्च तत्सृष्ट्वा तदेवा-
नुप्राविशदिति कार्यस्थस्य तदा-
त्मत्वं दर्शयति । अभयप्रतिष्ठोप-
पत्तेश्च । यदि हि विद्यावान्स्वा-
त्मनोऽन्यन्न पश्यति ततोऽभयं
प्रतिष्ठां विन्दत इति स्याद्भयहेतोः
परस्यान्यस्याभावात् । अन्यस्य
चाविद्याकृतत्वे विद्ययावस्तुत्व-
दर्शनोपपत्तिस्तद्वि द्वितीयस्य

का ही उपदेश किया जाता है ।
उसके समान इस प्रसङ्गमें ब्रह्म-
विज्ञानसे भिन्न किसी अन्य साधन-
सम्बन्धी विज्ञानका उपदेश नहीं
किया जाता ।

यदि कहो कि [पूर्वकाण्डमें]
कहे हुए कर्मकी अपेक्षावाला ब्रह्मज्ञान
परमात्माकी प्राप्तिमें साधनरूपसे
उपदेश किया जाता है, तो ऐसी
त्रात भी नहीं है, क्योंकि मोक्ष
नित्य है—इत्यादि हेतुओंसे इसका
पहले ही निराकरण किया जा चुका
है । ‘उसे रचकर वह उसीमें अनु-
प्रविष्ट हो गया’ यह श्रुति भी कार्य-
में स्थित आत्माका परमात्मत्व प्रदर्शित
करती है । अभय-प्रतिष्ठाकी उपपत्ति-
के कारण भी [उनका अभेद ही
मानना चाहिये] । यदि ज्ञानी अपनेसे
भिन्न किसी औरको नहीं देखता
तो वह अभयस्थितिको प्राप्त कर
लेता है—ऐसा कहा जा सकता
है, क्योंकि उस अवस्थामें भयके
हेतुभूत अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं
रहती । अन्य पदार्थ [अर्थात्
द्वैत] के अविद्याकृत होनेपर
ही विद्याके द्वारा उसके अवस्तुत्व
दर्शनकी उपपत्ति हो सकती
है । [भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाले]

चन्द्रस्य सत्त्वं यदतैमिरिकेण
चक्षुष्मता न गृह्यते ।

नैवं न गृह्यत इति चेत् ?

न, सुपुप्तसमाहितयोर-
ग्रहणात् ।

सुपुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति
चेत् ।

न, सर्वाग्रहणात् । जाग्रत्स्वप्न-
योरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति
चेन्न; अविद्याकृतत्वाज्जाग्र-
त्स्वप्नयोः; यदन्यग्रहणं जाग्रत्स्वप्न-
योस्तदविद्याकृतमविद्याभावेऽभा-
वात् ।

सुपुप्तेऽग्रहणमप्यविद्याकृत-
मिति चेत् ?

द्वितीय चन्द्रमाकी वास्तविकता
यही है कि वह तिमिररोगरहित
नेत्रोंवाले पुरुषद्वारा ग्रहण नहीं
किया जाता ।

पूर्व०—परन्तु द्वैतका ग्रहण न
होता हो—ऐसी बात तो है नहीं ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो,
क्योंकि सोये हुए और समाधिस्थ
पुरुषको उसका ग्रहण नहीं होता ।

पूर्व०—किन्तु सुपुप्तिमें जो द्वैतका
अग्रहण है वह तो विषयान्तरमें
आसक्तचित्त पुरुषके अग्रहणके
समान है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस
समय तो सभी पदार्थोंका अग्रहण
है [फिर वह अन्यासक्तचित्त कैसे
कहा जा सकता है ?] यदि कहो
कि जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अन्य
पदार्थोंका ग्रहण होनेसे उनकी सत्ता
है ही, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं;
क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न अविद्या-
कृत हैं । जाग्रत् और स्वप्नमें जो अन्य
पदार्थका ग्रहण है वह अविद्याके
कारण है, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति
होनेपर उसका अभाव हो जाता है ?

पूर्व०—सुपुप्तिमें जो अग्रहण है
वह भी तो अविद्याके ही कारण है ।

न, स्वाभाविकत्वात् । द्रव्य-

वस्तुनस्तत्त्विक-
विशेषरूपयो-
निर्वचनम्
स्य हि तत्त्वमविक्रि-
या परानपेक्षत्वात् ।
विक्रिया न तत्त्व-

परापेक्षत्वात् । न हि कारकापेक्षं

वस्तुनस्तत्त्वम् । सतो विशेषः

कारकापेक्षः, विशेषश्च विक्रिया ।

जाग्रत्स्वप्नयोश्च ग्रहणं विशेषः ।

यद्वि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं

तत्तस्य तत्त्वम्, यदन्यापेक्षं न

तत्तत्त्वम्; अन्याभावेऽभावात् ।

तस्मात्स्वाभाविकत्वाज्जाग्रत्स्वप्न-

वन्न सुषुप्ते विशेषः ।

येषां पुनरीश्वरोऽन्य आत्मनः

मेवदृष्टे-
भयहेतुत्वम्
कार्यं चान्यत्तेषां

भयानिवृत्तिर्भयस्या-

न्यनिमित्तत्वात् । सतश्चान्यस्यात्म-

हानानुपपत्तिः । न चासत् आ-

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वह तो स्वाभाविक है । द्रव्यका तात्त्विक स्वरूप तो विकार न होना ही है, क्योंकि उसे दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । दूसरेकी अपेक्षावाला होनेके कारण विकार तत्त्व नहीं हैं । जो कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंकी अपेक्षावाला होता है वह वस्तुका तत्त्व नहीं होता । विद्यमान वस्तुका विशेष रूप कारकोंकी अपेक्षावाला होता है, और विशेष ही विकार होता है । जाग्रत् और स्वप्नका जो ग्रहण है वह भी विशेष ही हैं । जिसका जो रूप अन्यकी अपेक्षासे रहित होता है वही उसका तत्त्व होता है और जो अन्यकी अपेक्षावाला होता है वह तत्त्व नहीं होता, क्योंकि उस अन्यका अभाव होनेपर उसका भी अभाव हो जाता है । अतः [सुषुप्तावस्था] स्वाभाविक होनेके कारण उस समय जाग्रत् और स्वप्न के समान विशेषकी सत्ता नहीं है ।

किन्तु जिनके मतमें ईश्वर आत्मा-से भिन्न है और उसका कार्यरूप यह जगत् भी भिन्न है उनके भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भय दूसरेके ही कारण हुआ करता है । अन्य पदार्थ यदि सत् होगा तब तो उसके स्वरूपका अभाव नहीं हो सकता और यदि असत्

त्मलाभः । सापेक्षस्यान्यस्य भय-
हेतुत्वमिति चेन्न, तस्यापि तुल्य-
त्वात् । यदधर्माद्यनुसहायीभूतं
नित्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्ष्या-
न्यद्भयकारणं स्यात्तस्यापि तथा-
भूतस्यात्महानाभावाद्भयानिवृत्तिः
आत्महाने वा सदसत्तोरितरेत-
रापत्तौ सर्वत्रानाश्वास एव ।

एकत्वपक्षे पुनः सनिमित्तस्य

ज्ञानाज्ञानयो- संसारस्य अविद्या-
र्नात्मभगवत्त्वं कल्पितत्वाददोषः ।

तैमिरिकदृष्टस्य हि द्वितीयचन्द्र-
स्य नात्मलाभो नाशो वास्ति ।
विद्याविद्ययोस्तद्वर्मत्वमिति चेन्न
प्रत्यक्षत्वात् । विवेकाविवेकौ

होगा तो उसके स्वरूपकी सिद्धि
ही नहीं हो सकती । यदि कहो
कि दूसरा (ईश्वर) तो [हमारे
धर्माधर्म आदिकी] अपेक्षासे ही
भयका कारण है, तो ऐसा कहना
भी ठीक नहीं, क्योंकि वह [सापेक्ष
ईश्वर] भी वैसा ही है । जो कोई
[ईश्वरादि] दूसरा पदार्थ नित्य या
अनित्य अधर्मादिरूप सहायक निमित्त-
की अपेक्षासे भयका कारण होता
है, यथार्थ होनेके कारण उसके
स्वरूपका भी अभाव न होनेसे
उसके भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती;
और यदि उसके स्वरूपका अभाव
माना जाय तो सत् और असत्को
इतरेतरत्व [अर्थात् सत्को असत्त्व
और असत्को सत्त्व] की प्राप्ति
होनेसे कहीं विश्वास ही नहीं किया
जा सकता ।

परन्तु एकत्व-पक्ष स्वीकार करने-
पर तो सारा संसार अपने कारणके
सहित अविद्याकल्पित होनेके कारण
कोई दोष ही नहीं आता । तिमिर
रोगके कारण देखे गये द्वितीय
चन्द्रमाके स्वरूपकी न तो प्राप्ति ही
होती है और न नाश ही । यदि
कहो कि ज्ञान और अज्ञान तो
आत्माके ही धर्म हैं [इसलिये उनके
कारण आत्माका विकार होता होगा]
तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि
वे तो प्रत्यक्ष (आत्माके दृश्य) हैं ।

रूपादिवत्प्रत्यक्षावुपलभ्येते अन्तः-
करणस्यौ । न हि रूपस्य
प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम् ।
अविद्या च स्वानुभवेन रूप्यते
सूढोऽहमविविक्तं मम विज्ञान-
मिति ।

तथा विद्याविवेकोऽनुभूयते ।
उपदिशन्ति चान्येभ्य आत्मनो
विद्याम् । तथा चान्येष्वधारयन्ति ।
तस्मान्नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये
नामरूपे च नात्मधर्मौ । “नाम-
रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा
तद्ब्रह्म” (छा० उ० ८ । १४ ।
१) इति श्रुत्यन्तरात् । ते च
पुनर्नामरूपे सवितर्यहोरात्रे इव
कल्पितेन परमार्थतो विद्यमाने ।

अभेदे “एतमानन्दमयमा-
त्मानमुपसंक्रामति” (तै० उ०
२ । ८ । ५) इति कर्मकर्तृत्वा-
नुपपत्तिरिति चेत् ?

रूप आदि विषयोंके समान अन्तः-
करणमें स्थित विवेक और अविवेक
प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं । प्रत्यक्ष
उपलब्ध होनेवाला रूप द्रष्टाका धर्म
नहीं हो सकता । ‘मैं नृद हूँ, मेरी
बुद्धि मलिन है’ इस प्रकार अविद्या
भी अपने अनुभवके द्वारा निरूपण
की जाती है ।

इसी प्रकार विद्याका पार्यन्त्य भी
अनुभव किया जाता है । बुद्धिमान्
लोग दूसरोंको अपने ज्ञानका उपदेश
किया करते हैं । तथा दूसरे लोग
भी उसका निश्चय करते हैं । अतः
विद्या और अविद्या नाम-रूप पक्षके
ही हैं, तथा नाम और रूप आत्माके
धर्म नहीं हैं, जैसा कि “जो नाम
और रूपका निर्वाह करनेवाला है
तथा जिसके भीतर वे (नाम
और रूप) रहते हैं” वह ब्रह्म है,
इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है ।
वे नाम-रूप भी सूर्यमें दिन और
रात्रिके समान कल्पित ही हैं,
वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं ।

पूर्व०—किन्तु [ईश्वर और जीवका]
अभेद माननेपर तो “वह इस
आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है”
इस श्रुतिमें जो [पुरुषका] कर्तृत्व और
[आनन्दमय आत्माका] कर्मत्व बताया
है वह उपपन्न नहीं होता ?

न; विज्ञानमात्रत्वात्संक्रमण-
संक्रमणशब्द- स्य । न जल्लूकादि-
मात्रसंक्रमण- वत्संक्रमणमिहोप-
दिश्यते, किं तर्हि ? विज्ञानमात्रं
संक्रमणश्रुतेरर्थः ।

ननु मुख्यमेव संक्रमणं श्रूयत
उपसंक्रामतीति चेत् ?

न; अन्नमयेऽदर्शनात् । न
अन्नमयमुपसंक्रामतो बाह्यादस्मा-
द्लोकाजल्लूकावत्संक्रमणं दृश्यते-
ऽन्यथा वा ।

मनोमयस्य वह्निर्निर्गतस्य
विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्या-
वृत्त्यात्मसंक्रमणमिति चेत् ?

न; स्वात्मनि क्रियाविरोधा-
दन्योऽन्नमयमन्यमुपसंक्रामतीति
प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि पुरुष-
का संक्रमण तो केवल विज्ञानमात्र
है । यहाँ जोंक आदिके संक्रमणके
समान पुरुषके संक्रमणका उपदेश
नहीं किया जाता । तो कैसा ?
इस संक्रमण-श्रुतिका अर्थ तो केवल
विज्ञानमात्र है ।*

पूर्व०—‘उपसंक्रामति’ इस पदसे
यहाँ मुख्य संक्रमण (समीप जाना)
ही अभिप्रेत हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि अन्नमयमें
मुख्य संक्रमण देखा नहीं जाता—
अन्नमयको उपसंक्रमण करनेवालेका
जोंकके समान इस बाह्य जगत्से
अथवा किसी और प्रकारसे संक्रमण
नहीं देखा जाता ।

पूर्व०—बाहर [निकलकर विषयोंमें]
गये हुए मनोमय अथवा विज्ञानमय
कोशोंका तो वहाँसे पुनः लौटनेपर
अपनी ओर होना संक्रमण ही हो
सकता है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे
अपनेमें ही अपनी क्रिया होना—
यह विरोध उपस्थित होता है ।
अन्नमयसे भिन्न पुरुष अपनेसे भिन्न
अन्नमयको प्राप्त होता है—इस प्रकार

* अर्थात् यहाँ ‘संक्रमण’ शब्दका अर्थ ‘जाना’ या ‘पहुँचना’ नहीं बल्कि
‘जानना’ है ।

स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति वि-
रोधः स्यात् । तथा आनन्दमय-
स्यात्मसंक्रमणमुपपद्यते । तस्मान्न
प्राप्तिः संक्रमणं नाप्यन्नमयादी-
नामन्यतमकर्तृकम् । पारिशेष्याद-
न्नमयाद्यानन्दमयान्तात्मव्यति-
रिक्तकर्तृकं ज्ञानमात्रं च संक्रमण-
मुपपद्यते ।

ज्ञानमात्रत्वे चानन्दमयान्तः-
स्थस्यैव सर्वान्तरस्याकाशाद्यन्न-
मयान्तं कार्यं सृष्ट्वानुप्रविष्टस्य
हृदयगुहाभिसंबन्धादन्नमयादि-
ष्वनात्मस्वात्मविभ्रमः संक्रमणे-
नात्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विन-
श्यति । तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रम-
नाशे संक्रमणशब्द उपचर्यते न
ह्यन्यथा सर्वगतस्यात्मनः संक्र-
मणमुपपद्यते ।

प्रकरणका आरम्भ करके अब 'मना-
मय अथवा विज्ञानमय अपनेको
ही प्राप्त होता है' ऐसा कहनेमें
उससे विरोध आता है । इसी प्रकार
आनन्दमयका भी अपनेको प्राप्त
होना सम्भव नहीं है; अतः प्राप्तिका
नाम संक्रमण नहीं है और न वह
अन्नमयादिमेंसे किसीके द्वारा किया
जाता है । फलतः आत्मासे भिन्न
अन्नमयसे लेकर आनन्दमय कोश-
पर्यन्त जिसका कर्ता है वह ज्ञानमात्र
ही संक्रमण होना सम्भव है ।

इस प्रकार 'संक्रमण' शब्दका
अर्थ ज्ञानमात्र होनेपर ही आनन्दमय
कोशके भीतर स्थित सर्वान्तर तथा
आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त
कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट
हुए आत्माका जो हृदयगुहाके
सम्बन्धसे अन्नमय आदि अनात्माओं-
में आत्मत्वका भ्रम है वह संक्रमण-
स्वरूप विवेक ज्ञानकी उत्पत्तिसे नष्ट
हो जाता है । अतः इस अविद्यारूप
भ्रमके नाशमें ही संक्रमण शब्दका
उपचार (गौणरूप) से प्रयोग
किया गया है; इसके सिवा किसी और
प्रकार सर्वगत आत्माका संक्रमण
होना सम्भव नहीं है ।

वस्त्वन्तराभावाच्च । न च
स्वात्मन एव संक्रमणम् । न हि
जलकात्मानमेव संक्रामति ।
तस्मात्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति
यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव
बहुभवनसर्गप्रवेशरसलाभाभय-
संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्माणि
सर्वव्यवहारविषये; न तु परमार्थतो
निर्विकल्पे ब्रह्माणि कश्चिदपि
विकल्प उपपद्यते ।

तमेतं निर्विकल्पमात्मानमेवं-
क्रमेणोपसंक्रम्य विदित्वा न
विभेति कुतश्चनाभयं प्रतिष्ठां
विन्दत इत्येतस्मिन्नर्थेऽप्येव श्लो-
को भवति । सर्वस्यैवास्य प्रक-
रणस्यानन्दवल्ल्यर्थस्य संक्षेपतः
प्रकाशनायैव मन्त्रो भवति ॥५॥

आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुका
अभाव होनेसे भी [उसका किसीके
प्रति जानारूप संक्रमण नहीं हो
सकता] । अपना अपनेको ही
प्राप्त होना तो सम्भव नहीं है ।
जोंक अपने प्रति ही संक्रमण (गमन)
नहीं करती । अतः 'ब्रह्म सत्यस्वरूप,
ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' इस
पूर्वोक्त लक्षणवाले आत्माके ज्ञानके
लिये ही सम्पूर्ण व्यवहारके आधार-
भूत ब्रह्ममें अनेक होना, सृष्टिमें
अनुप्रवेश करना, आनन्दकी प्राप्ति,
अभय और संक्रमणादिकी कल्पना
की गयी है; परमार्थतः तो निर्विकल्प
ब्रह्ममें कोई विकल्प होना सम्भव
है नहीं ।

इस प्रकार क्रमशः उस इस
निर्विकल्प आत्माके प्रति उपसंक्रमण-
कर अर्थात् उसे जानकर साधक
किसीसे भयभीत नहीं होता । वह
अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है । इसी
अर्थमें यह श्लोक भी है । इस
सम्पूर्ण प्रकरणके अर्थात् आनन्द-
वल्लीके अर्थको संक्षेपसे प्रकाशित
करनेके लिये ही यह मन्त्र है ॥५॥



इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥



ब्रह्मणोऽनुबन्धः

ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले विद्वान्की अभयप्राप्ति

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति । एत-
ह वाव न तपति । किमहं साधु नाकरवम् । किमहं पाप-
सकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते ।
उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युप-
निषत् ॥ १ ॥

जहाँसे मनके सहित वाणो उसे प्राप्त न करके लौट आती है उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता । उस विद्वान्को, मैंने शुभ क्यों नहीं किया, पापकर्म क्यों कर डाला—इस प्रकारकी चिन्ता सन्तप्त नहीं करती । उन्हें [ये पाप और पुण्य ही तापके कारण हैं—] इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् अपने आत्माको प्रसन्न अथवा सवल करता है उसे ये दोनों आत्मस्वरूप ही दिखायी देते हैं । [वह कौन है ?] जो इस प्रकार [पूर्वोक्त अद्वैत आनन्दस्वरूप ब्रह्मको] जानता है । ऐसी यह उपनिषद् (रहस्य-विद्या) है ।

यतो यस्मान्निर्विकल्पाद्यथोक्त-

लक्षणादद्वयानन्दादात्मनो वाचो-

अभिधानानि द्रव्यादिसविकल्प-

जिस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले निर्विकल्प अद्वयानन्दरूप आत्माके पाससे द्रव्यादि सविकल्प वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाला वाक्य—अभिधान, जो वस्तुत्वमें [ब्रह्मको

वस्तुविषयाणि वस्तुसामान्या-
निर्विकल्पेऽद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयो-
क्तृभिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमाना-
न्यप्राप्याप्रकाश्यैव निवर्तन्ते
स्वसामर्थ्याद्दीयन्ते—

मन इति प्रत्ययो विज्ञानम् ।
तच्च यत्राभिधानं प्रवृत्तमतीन्द्रि-
येऽप्यर्थे तदर्थे च प्रवर्तते प्रका-
शनाय । यत्र च विज्ञानं तत्र
वाचः प्रवृत्तिः । तस्मात्सहैव
वाक्यनसयोरभिधानप्रत्यययोः
प्रवृत्तिः सर्वत्र ।

तस्माद्ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा
प्रयोक्तृभिः प्रयुज्यमाना अपि
वाचो यस्मादप्रत्ययविषयादन-
भिधेयाददृश्यादिविशेषणात्सहैव
मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशन-
समर्थेन निवर्तन्ते तं ब्रह्मण आ-
नन्दं श्रोत्रियस्यावृजिनस्याकामह-

अन्य सविकल्प वस्तुओंके] समान
समझनेके कारण वक्ताओंद्वारा, ब्रह्म-
के निर्विकल्प और अद्वैत होनेपर
भी, उसका निर्देश करनेके लिये
प्रयोग किया जाता है, उसे न
पाकर अर्थात् उसे प्रकाशित किये
बिना ही लौट आता है—अपनी
सामर्थ्यसे च्युत हो जाता है—

['मनसा सह' (मनके सहित)
इस पदसमूहमें] 'मन' शब्द प्रत्यय
अर्थात् विज्ञानका वाचक है । वह,
जहाँ-कहीं अतीन्द्रिय पदार्थोंमें भी
शब्दकी प्रवृत्ति होती है वहीं उसे
प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ
करता है । जहाँ-कहीं भी विज्ञान
है वहीं वाणीकी भी प्रवृत्ति है ।
अतः अभिधान और प्रत्ययरूप
वाणी और मनकी सर्वत्र साथ-साथ
ही प्रवृत्ति होती है ।

इसलिये वक्ताओंद्वारा सर्वथा
ब्रह्मका प्रकाश करनेके लिये ही
प्रयोगकी हुई वाणी, जिस प्रतीतिके
अविषयभूत, अकथनीय, अदृश्य और
निर्विशेष ब्रह्मके पाससे मन अर्थात्
सबको प्रकाशित करनेमें समर्थ
विज्ञानके सहित लौट आती है उस
ब्रह्मके आनन्दको—श्रोत्रिय निष्पाप

तस्य सर्वेपणाविनिर्मुक्तस्यात्मभूतं
विषयविषयिसंबन्धविनिर्मुक्तं
स्वाभाविकं नित्यमविभक्तं पर-
मानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्यथोक्तेन
विधिना न विभेति कुतश्चन
निमित्ताभावात् ।

न हि तस्माद्विदुषोऽन्यद्वस्त्व-
न्तरमस्ति भिन्नं यतो विभेति ।
अविद्यया यदोदरमन्तरं कुरुते,
अथ तस्य भयं भवतीति ह्युक्तम् ।
विदुषश्चाविद्याकार्यस्य तैमिरिक-
दृष्टद्वितीयचन्द्रवन्नाशाद्भयनिमि-
त्तस्य न विभेति कुतश्चनेति
युज्यते ।

मनोमये चोदाहृतो मन्त्रो
मनसो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात् ।
तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तु-
त्यर्थं न विभेति कदाचनेति
भयमात्रं प्रतिषिद्धमिहाद्वैतविषये
न विभेति कुतश्चनेति भयनिमि-
त्तमेव प्रतिषिध्यते ।

अकामहत और सब प्रकारकी
एपणाओंसे मुक्त साधकके आत्मभूत,
विषय-विषयी सम्बन्धसे रहित,
स्वाभाविक, नित्य और अविभक्त
ऐसे ब्रह्मके उत्कृष्ट आनन्दको पूर्वोक्त
विधिसे जाननेवाला पुरुष कोई
भयका निमित्त न रहनेके कारण
किसीसे भयभीत नहीं होता ।

उस विद्वान्से भिन्न कोई दूसरी
वस्तु ही नहीं है जिससे कि उसे भय
हो । अविद्यावश जब थोड़ा-सा भी
अन्तर करता है तभी जीवको भय
होता है—ऐसा कहा ही गया है ।
अतः तिमिररोगीके देखे हुए द्वितीय
चन्द्रमाके समान विद्वान्के अविद्या-
के कार्यभूत भयके निमित्तका नाश
हो जानेके कारण वह किसीसे नहीं
डरता—ऐसा कहना ठीक ही है ।

मनोमय कोशके प्रकरणमें यह
मन्त्र उदाहरणके लिये दिया गया
था, क्योंकि मन ब्रह्मविज्ञानका
साधन है । उसमें ब्रह्मत्वका आरोप
करके उसकी स्तुतिके लिये ही 'वह
कभी नहीं डरता' इस वाक्यसे उसके
भयमात्रका प्रतिषेध किया गया था ।
यहाँ अद्वैतप्रकरणमें 'वह किसीसे
नहीं डरता,—इस प्रकार भयके
निमित्तका ही प्रतिषेध किया जाता है।

नन्वस्ति भयनिमित्तं साध्व-
करणं पापक्रिया च ?

नैवम्; कथमित्युच्यते—एतं
यथोक्तमेवंविदम्, ह वावेत्यव-
धारणार्थो, न तपति नोद्वेज-
यति न संतापयति । कथं पुनः
साध्वकरणं पापक्रिया च न
तपतीत्युच्यते । किं कस्मात्साधु
शोभनं कर्म नाकरवं न कृतवा-
नसीति पश्चात्संतापो भवत्या-
सन्ने मरणकाले । तथा किं
कस्मात्पापं प्रतिपिद्धं कर्माकरवं
कृतवानसीति च नरकपतनादि-
दुःखभयात्तापो भवति । ते एते
साध्वकरणपापक्रिये एवमेनं न
तपतो यथाविद्वांसं तपतः ।

कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत
इत्युच्यते—स य एवंविद्वानेते
साध्वसाधुनी तापहेतू इत्यात्मानं
स्पृणुते प्रीणयति बलयति वा

शंका—किन्तु शुभ कर्मका न
करना और पापकर्म करना यह तो
भयका कारण है ही ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है ।
किस प्रकार नहीं है सो बतलाया
जाता है—इस पूर्वोक्तको अर्थात् इस
प्रकार जाननेवालेको वह तप्त—उद्विग्न
अर्थात् सन्तप्त नहीं करता । मूलमें
'ह' और 'वाव' ये निश्चयार्थक
निपात हैं । वह पुण्यका न करना
और पापक्रिया उसे किस प्रकार
ताप नहीं देते ? इसपर कहते हैं—
'मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया'
ऐसा पश्चात्ताप मरणकाल समीप
आनेपर हुआ करता है तथा 'मैंने
पाप यानी प्रतिपिद्ध कर्म क्यों
किया' ऐसा दुःख नरकपात आदि-
के भयसे होता है । ये पुण्यका न
करना और पापका करना इस
विद्वान्को इस प्रकार संतप्त नहीं
करते जैसे कि वे अविद्वान्को किया
करते हैं ।

वे विद्वान्को क्यों सन्तप्त नहीं
करते ? सो बतलाया जाता है—ये
पाप-पुण्य ही तापके हेतु हैं—इस
प्रकार जाननेवाला जो विद्वान्
आत्माको प्रसन्न अथवा सबल करता

परमात्मभावेनोभे पश्यतीत्यर्थः ।
 उभे पुण्यपापे हि यस्मादेवमेव
 विद्वानेते आत्मानमात्मरूपेणैव
 पुण्यपापे स्वेन विशेषरूपेण
 शून्ये कृत्वात्मानं स्पृणुत एव ।
 को य एवं वेद यथोक्तमद्वैत-
 मानन्दं ब्रह्म वेद तस्यात्मभावेन
 दृष्टे पुण्यपापे निर्वीर्ये अतापके
 जन्मान्तरारम्भके न भवतः ।

इतीयमेवं यथोक्तास्यां बल्ल्यां
 ब्रह्मविद्योपनिषत्सर्वाभ्यो विद्या-
 भ्यः परमरहस्यं दर्शितमित्यर्थः ।
 परं श्रेयोऽस्यां निपण्णमिति ॥१॥

हैं अर्थात् इन दोनोंको परमात्मभाव-
 से देखता है [उसे ये पाप-पुण्य
 सन्तप्त नहीं करते] । क्योंकि ये
 पाप-पुण्य दोनों ऐसे हैं [अर्थात्
 आत्मस्वरूप हैं] अतः यह विद्वान्
 इस पाप-पुण्यरूप आत्माको आत्म-
 भावनासे ही अपने विशेषरूपसे
 शून्य कर आत्माको ही तृप्त करता
 है । वह विद्वान् कौन है ? जो इस
 प्रकार जानता है अर्थात् पूर्वोक्त
 अद्वैत एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्मको
 जानता है । उसके आत्मभावसे
 देखे हुए पुण्य-पाप निर्वीर्य और
 ताप पहुँचानेवाले न होनेसे
 जन्मान्तरके आरम्भक नहीं होते ।

इस प्रकार इस वल्लीमें, जैसी कि
 ऊपर कही गयी है, यह ब्रह्मविद्या-
 रूप उपनिषद् है । अर्थात् इसमें
 अन्य सब विद्याओंकी अपेक्षा परम
 रहस्य प्रदर्शित किया गया है । इस
 विद्यामें ही परम श्रेय निहित है ॥१॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
 श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये
 ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता ।

भृगुवल्मी

प्रथम अनुकाक

भृगुका अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मविद्याविषयक
प्रश्न करना तथा वरुणका ब्रह्मोपदेश

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माकाशा-

उपक्रमः

दिकार्यमन्नमयान्तं
सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं

विशेषवद्विषयलभ्यमानं यस्मा-
त्तस्मात्सर्वकार्यविलक्षणमदृश्यादि-
धर्मकमेवानन्दं तदेवाहमिति
विजानीयादनुप्रवेशस्य तदर्थत्वा-
त्तस्यैवं विजानतः शुभाशुभे
कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न
भवत इत्येवमानन्दवल्ल्यां विव-
क्षितोऽर्थः परिसमाप्ता च ब्रह्म-
विद्या । अतः परं ब्रह्मविद्या-
साधनं तपो वक्तव्यमन्नादिविप-
याणि चोपासनान्यनुक्तानीत्यत

क्योंकि सत्य, ज्ञान और अनन्त
ब्रह्म ही आकाशसे लेकर अन्नमय-
पर्यन्त कार्यवर्गको रचकर उसमें
अनुप्रविष्ट हो सविशेष-सा उपलब्ध
हो रहा है इसलिये वह सम्पूर्ण
कार्यवर्गसे विलक्षण अदृश्यादि धर्म-
वाला आनन्द ही है; और वही मैं
हूँ—ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि
उसके अनुप्रवेशका यही उद्देश्य
है । इस प्रकार जाननेवाले उस
साधकके शुभाशुभ कर्मजन्मान्तरका
आरम्भ करनेवाले नहीं होते ।
आनन्दवल्लीमें यही विषय कहना
अभीष्ट था । अब ब्रह्मविद्या तो
समाप्त हो चुकी । यहाँसे आगे
ब्रह्मविद्याके साधन तपका निरूपण
करना है तथा जिनका पहले
निरूपण नहीं किया गया है उन
अन्नादिविषयक उपासनाओंका भी
वर्णन करना है; इसीलिये इस

इदमारभ्यते—

प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि
भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः
श्रोत्रं मनो वाचमिति । त ५ होवाच । यतो वा इमानि
भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपो-
ऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

वरुणका सुप्रसिद्ध पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया [और बोला—] ‘भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोध कराइये ।’ उससे वरुणने यह कहा—‘अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाक् [ये ब्रह्मकी उपलब्धि के द्वार हैं] ।’ फिर उससे कहा—‘जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर जिसके आश्रयसे ये जीवित रहते हैं और अन्तमें विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर; वही ब्रह्म है ।’ तब उस (भृगु) ने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

आख्यायिका विद्यास्तुतये,
प्रियाय पुत्राय पित्रोक्तेति—
भृगुर्वै वारुणिः । वैशब्दः प्रसि-
द्धानुसारको भृगुरित्येवंनामा
प्रसिद्धोऽनुस्यार्यते । वारुणिर्वरु-
णस्यापत्यं वारुणिर्वरुणं पितरं

पिताने अपने प्रिय पुत्रको इस (विद्या) का उपदेश किया था—
इस दृष्टिसे यह आख्यायिका विद्याकी स्तुतिके लिये है । ‘भृगुर्वै वारुणिः’ इसमें ‘वै’ शब्द प्रसिद्धका स्मरण करानेवाला है । इससे ‘भृगु’ इस नामसे प्रसिद्ध ऋषिका अनुस्मरण कराया जाता है जो वारुणि अर्थात् वरुणका पुत्र था । वह ब्रह्मको

ब्रह्म विजिज्ञासुरूपससारोपगत-
वान्, अधीहि भगवो ब्रह्मेत्य-
नेन मन्त्रेण । अधीहि अध्यापय
कथय । स च पिता विधिवदुप-
सन्नाय तस्मै पुत्रायैतद्वचनं
प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं
मनो वाचमिति ।

अन्नं शरीरं तदभ्यन्तरं च
वरुणोपदिष्ट- प्राणमत्तारमुपल-
भक्षमाप्तिद्वाराणि विधिसाधनानि चक्षुः
श्रोत्रं मनो वाचमित्येतानि ब्रह्मो-
पलब्धौ द्वाराण्युक्तवान् । उक्त्वा
च द्वारभूतान्येतान्यन्नादीनि तं
भृगुं होवाच ब्रह्मणो लक्षणम् ।
किं तत् ?

यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मा-
दीनि स्तम्बपर्यन्तानि
भूतानि जायन्ते ।
येन जातानि जीवन्ति प्राणा-
न्धारयन्ति वर्धन्ते । विनाशकाले

जाननेकी इच्छावाला होकर अपने
पिता वरुणके पास गया । अर्थात्
'हे भगवन् ! आप मुझे ब्रह्मका
उपदेश कीजिये' इस मन्त्रके द्वारा
[उसने गुरूपसदन किया] ।
'अधीहि' शब्दका अर्थ अध्यापन
(उपदेश) कीजिये—कहिये ऐसा
समझना चाहिये । उस पिताने
अपने पास विधिपूर्वक आये हुए
उस पुत्रसे यह वाक्य कहा—'अन्नं
प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनः वाचम् ।'

'अन्न' अर्थात् शरीर उसके भीतर
अन्न भक्षण करनेवाला प्राण,
तदनन्तर विषयोंकी उपलब्धि के
साधनभूत चक्षुः, श्रोत्र, मन और
वाक् ये ब्रह्मकी उपलब्धिमें द्वाररूप
हैं—ऐसा उसने कहा । इस
प्रकार इन द्वारभूत अन्नादिको
बतलाकर उसने उस भृगुको ब्रह्मका
लक्षण बतलाया । वह क्या है ?
[सो बतलाते हैं—]

जिससे ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त
ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं,
जिसके आश्रयसे ये जन्म लेनेके
अनन्तर जीवित रहते—प्राण धारण
करते अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होते हैं
तथा विनाशकाल उपस्थित होनेपर

च यत्प्रयन्ति यद्ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंविशन्ति तादात्म्य-
 सेव प्रतिपद्यन्ते । उत्पत्तिस्थिति-
 लयकालेषु यदात्मतां न जहति
 भूतानि तदेतद्ब्रह्मणो लक्षणम् ।
 तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्व विशेषेण
 ज्ञातुमिच्छस्व । यदेवंलक्षणं ब्रह्म
 तदन्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वे-
 त्यर्थः । श्रुत्यन्तरं च—“प्राण-
 स्य प्राणमुत चक्षुपश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य
 श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो
 विदुस्ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराण-
 मग्न्यम्” (वृ० उ० ४।४।
 १८) इति ब्रह्मोपलब्धौ द्वारा-
 ण्येतानीति दर्शयति ।

स भृगुर्ब्रह्मोपलब्धिद्वाराणि

ब्रह्मोपलब्धये ब्रह्मलक्षणं च श्रुत्वा
 भृगोस्तपः पितुस्तपो ब्रह्मोप-

लब्धिसाधनत्वेनातप्यत तप्त-
 वान् । कुतः पुनरनुपदिष्टस्यैव
 तपसः साधनत्वप्रतिपत्तिर्भृगोः ?

जिसके प्रति प्रयाण करनेवाले
 अर्थात् जिस ब्रह्मके प्रति गमन
 करनेवाले वे जीव उसमें प्रवेश
 करते—उसके तादात्म्यभावको प्राप्त
 हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि
 उत्पत्ति, स्थिति और लयकालमें
 प्राणी जिसकी तद्रूपताका त्याग नहीं
 करते यही उस ब्रह्मका लक्षण है ।
 त. उस ब्रह्मको विशेषरूपसे जाननेकी
 इच्छा कर; अर्थात् जो ऐसे लक्षणों-
 वाला ब्रह्म है उसे अन्नादिके द्वारा
 प्राप्त कर । “ब्रह्म प्राणका प्राण,
 चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका
 अन्न और मनका मन है—ऐसा जो
 जानते हैं वे उस पुरातन और श्रेष्ठ
 ब्रह्मको साक्षात् जान सकते हैं” ऐसी
 एक दूसरी श्रुति भी इस बातको
 प्रदर्शित करती है कि ये प्राणादि
 ब्रह्मकी उपलब्धिमें द्वारस्वरूप हैं ।

उस भृगुने अपने पितासे ब्रह्मकी
 उपलब्धिके द्वार और ब्रह्मका लक्षण
 सुनकर ब्रह्मसाक्षात्कारके साधन-
 रूपसे तप किया । [यहाँ प्रश्न
 होता है कि] जिसका उपदेश ही
 नहीं दिया गया था उस तपके
 [ब्रह्मप्राप्तिका] साधन होनेका
 ज्ञान भृगुको कैसे हुआ ? [उत्तर—]

सावशेषोक्तेः । अन्नादि ब्रह्मणः
प्रतिपत्तौ द्वारं लक्षणं च यतो
वा इमानीत्याद्युक्तवान् । सावशेषं
हि तत्साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात् ।

अन्यथा हि स्वरूपेणैव ब्रह्म
निर्देष्टव्यं जिज्ञासवे पुत्रायेद-
मित्थंरूपं ब्रह्मेति । न चैवं निर-
दिशत्किं तर्हि ? सावशेषमेवोक्त-
वान् । अतोऽवगम्यते नूनं साध-
नान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्म-
विज्ञानं प्रतीति । तपोविशेषप्रति-
पत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात् ।
सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयाणां
साधनानां तप एव साधकतमं
साधनमिति हि प्रसिद्धं लोके ।
तस्मात्पित्रानुपदिष्टमपि ब्रह्म-
विज्ञानसाधनत्वेन तपः प्रतिपेदे
भृगुः । तच्च तपो बाह्यान्तः-
करणसमाधानं तद्द्वारकत्वाद्ब्रह्म-

क्योंकि [उसके पिताका] कथन
सावशेष (जिसमें कुछ कहना शेष
रह गया हो—ऐसा) था । वरुणने
'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि
रूपसे अन्नादि ब्रह्मकी प्राप्तिका द्वार
और लक्षण कहा था । वह सावशेष
(असम्पूर्ण) था, क्योंकि उससे
ब्रह्मका साक्षात् निर्देश नहीं होता ।

नहीं तो, उसे अपने जिज्ञासु
पुत्रके प्रति 'वह ब्रह्म ऐसा है' इस
प्रकार उसका स्वरूपसे ही निर्देश
करना चाहिये था । किन्तु इस
प्रकार उसने निर्देश किया नहीं है ।
तो किस प्रकार किया है ? उसने
उसे सावशेष ही उपदेश किया है ।
इससे जाना जाता है कि उसके
पिताको अवश्य ही ब्रह्मज्ञानके प्रति
किसी अन्य साधनकी भी अपेक्षा
है । सबसे बड़ा साधन होनेके
कारण भृगुने तपको ही विशेष
रूपसे ग्रहण किया । जिनके साध्य
विषय नियत हैं उन साधनोंमें तप
ही सबसे अधिक सिद्धि प्राप्त कराने-
वाला साधन है—यह बात लोकमें
प्रसिद्ध ही है । इसलिये पिताके
उपदेश न देनेपर भी भृगुने ब्रह्म-
विज्ञानके साधनरूपसे तपको स्वीकार
किया । वह तप बाह्य इन्द्रिय
और अन्तःकरणका समाहित करना

प्रतिपत्तेः । “मनसश्चेन्द्रियाणां
च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः
पर उच्यते” (महा० शा० २५०।
४) इति स्मृतेः । स च तपस्त-
प्त्वा ॥१॥

ही है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति उसीके
द्वारा होनेवाली है । “मन और
इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप
है । वह सब धर्मोंसे उत्कृष्ट है और
वही परम धर्म कहा जाता है”—इस
स्मृतिसे यही बात सिद्ध होती है ।
उस भृगुने तप करके—॥१॥

इति भृगुवल्क्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

द्वितीयः अनुवाकः

अत्र ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर
भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके
उपदेशसे पुनः तप करना ।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्भ्येव खल्विमानि
भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं
प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितर-
मुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ५ होवाच ।
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब
प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा
प्रयाण करते समय अन्नमें ही लीन होते हैं । ऐसा जानकर वह फिर
अपने पिता वरुणके पास आया [और कहा—] ‘भगवन्! मुझे ब्रह्मका
उपदेश कीजिये ।’ वरुणने उससे कहा—‘ब्रह्मको तपके द्वारा जाननेकी

इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है ।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्वि-
ज्ञातवान् तद्वि यथोक्तलक्षणो-
पेतम् । कथम् ? अन्नाद्व्येव
खल्विमानि भूतानि जायन्ते;
अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं
प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तस्मा-
द्युक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभि-
प्रायः । स एवं तपस्तप्त्वान्नं
ब्रह्मेति विज्ञायान्नलक्षणेनोप-
पत्त्या च पुनरेव संशयमापन्नो
वरुणं पितरमुपससार । अधीहि
भगवो ब्रह्मेति ।

कः पुनः संशयहेतुरस्येत्यु-
च्यते—अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात् ।
तपसः पुनः पुनरुपदेशः साधना-
तिशयत्वावधारणार्थः । यावद्ब्र-
ह्मणो लक्षणं निरतिशयं न भवति
यावच्च जिज्ञासा न निवर्तते
तावत्तप एव ते साधनम् । तप-

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । वही
उपर्युक्त लक्षणसे युक्त है । सो कैसे ?
क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब
प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर
अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा
मरणोन्मुख होनेपर अन्नमें ही लीन
हो जाते हैं । अतः तात्पर्य यह है
कि अन्नका ब्रह्मरूप होना ठीक ही
है । वह इस प्रकार तप करके तथा
अन्नके लक्षण और युक्तिके द्वारा 'अन्न
ही ब्रह्म है' ऐसा जानकर फिर भी
संशयग्रस्त हो पिता वरुणके पास
आया [और बोला—] 'भगवन् !
मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये' ।

परन्तु इसमें उसके संशयका
कारण क्या था ? सो बतलाया
जाता है । अन्नकी उत्पत्ति देखनेसे
[उसे ऐसा सन्देह हुआ] । यहाँ
तपका जो बारम्बार उपदेश किया
गया है वह उसका प्रधानसाधनत्व
प्रदर्शित करनेके लिये है । अर्थात्
जबतक ब्रह्मका लक्षण निरतिशय
न हो जाय और जबतक तेरी
जिज्ञासा शान्त न हो तबतक तप
ही तेरे लिये साधन है । तात्पर्य यह

सैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यर्थः ।
ऋज्वन्यत् ॥ १ ॥

हैं कि तू तपसे ही ब्रह्मको जाननेकी
इच्छा कर । शेष अर्थ सरल है ॥ १ ॥

इति भृगुवल्क्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर
भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके
उपदेशसे पुनः तप करना ।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि
भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं
प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं
पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच ।
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपो-
ऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

प्राण ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय प्राणसे ही ये प्राणी
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर प्राणसे ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख
होनेपर प्राणमें ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता
वरुणके पास आया । [और बोला—] ‘भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश
कीजिये ।’ उससे वरुणने कहा—‘तू तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर ।
तप ही ब्रह्म है ।’ तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर

भृगुका पुनः वरुणके पास जाना और उसके

उपदेशसे पुनः तप करना

मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो ह्येव खल्विमानि
भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीवन्ति । मनः
प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं
पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त० होवाच ।
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

मन ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय मनसे ही ये जीव
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर मनके द्वारा ही जीवित रहते हैं और
अन्तमें प्रयाण करते हुए मनमें ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जानकर
वह फिर पिता वरुणके पास गया [और बोला—] ‘भगवन् ! मुझे
ब्रह्मका उपदेश कीजिये ।’ वरुणने उससे कहा—‘तू तपसे ब्रह्मको
जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है ।’ तब उसने तप किया और उसने
तप करके—॥ १ ॥



इति भृगुवल्क्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥



पंचम अनुवाक

विज्ञान ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण
घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और
उसके उपदेशसे पुनः तप करना

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्यैव
खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि
जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय
पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।
त०होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ।
स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

विज्ञान ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय विज्ञानसे ही ये
सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर विज्ञानसे ही जीवित रहते हैं
और फिर मरणोन्मुख होकर विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं । ऐसा
जानकर वह फिर पिता वरुणके समीप आया [और बोला—] ‘भगवन् !
मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये ।’ वरुणने उससे कहा—‘तू तपके द्वारा
ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर । तप ही ब्रह्म है ।’ तब उसने तप किया
और तप करके—॥ १ ॥



इति भृगुवल्क्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥



षष्ठ अनुवाक

आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा भृगुका निश्चय करना, तथा इस भार्गवी
वारुणी विद्याका महत्त्व और फल

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्वयमेव
खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि
जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा
भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य
एवं वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्
भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥१॥

आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि आनन्दसे ही ये सब प्राणी
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और
प्रयाण करते समय आनन्दमें ही समा जाते हैं । वह यह भृगुकी जानी
हुई और वारुणकी उपदेश की हुई विद्या परमाकाशमें स्थित है । जो ऐसा
जानता है वह ब्रह्ममें स्थित होता है; वह अन्नवान् और अन्नका भोक्ता
होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके
कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

एवं तपसा विशुद्धात्मा । इस प्रकार तपसे शुद्धचित्त हुए
प्राणादिषु साकल्येन ब्रह्मलक्षण- भृगुने प्राणादिमें पूर्णतया ब्रह्मका
लक्षण न देखकर धीरे-धीरे भीतरकी
मपश्यन्शनैः शनैरन्तरनुप्रविश्या- और प्रवेश कर तपरूप साधनके

न्तरतममानन्दं ब्रह्म विज्ञातवां-
स्तपसैव साधनेन भृगुः । तस्माद्ब्र-
ह्मविजिज्ञासुना बाह्यान्तःकरण-
समाधानलक्षणं परमं तपःसाधन-
मनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः ।

अधुनाख्यायिकातोऽपसृत्य
श्रुतिः स्वेन वचनेनाख्यायिका-
निर्वर्त्यमर्थमाचष्टे—सैषा भार्गवी
भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता
वारुणी विद्या परमे व्योमन्हृदया-
काशगुहायां परम आनन्देऽद्वैते
प्रतिष्ठिता परिसमाप्तान्नमयादात्म-
नोऽधिप्रवृत्ता । य एवमन्योऽपि
तपसैव साधनेनानेनैव क्रमेणा-
नुप्रविश्यानन्दं ब्रह्म वेद स एवं
विद्याप्रतिष्ठानात्प्रतितिष्ठत्यानन्दे
परमे ब्रह्मणि, ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।

दृष्टं च फलं तस्योच्यते—

अन्नवान्प्रभूतमन्नमस्य विद्यत

द्वारा ही सबकी अपेक्षा अन्तरतम
आनन्दको ब्रह्म जाना । अतः जो
ब्रह्मको जाननेकी इच्छावाला हो उसे
साधनरूपसे बाह्य इन्द्रिय और
अन्तःकरणका समाधानरूप परम
तप ही करना चाहिये—यह इस
प्रकरणका तात्पर्य है ।

अब आख्यायिकासे निवृत्त होकर
श्रुति अपने ही वाक्यसे आख्यायिका-
से निष्पन्न होनेवाला अर्थ बतलाती
है—अन्नमय आत्मासे प्रारम्भ हुई
यह भार्गवी—भृगुकी जानी हुई और
वारुणी—वरुणकी कही हुई विद्या
परमाकाशमें—हृदयाकाशस्थित गुहा-
के भीतर अद्वैत परमानन्दमें प्रतिष्ठित
है अर्थात् वहीं इसका पर्यवसान
होता है । इसी प्रकार जो कोई
दूसरा पुरुष भी इसी क्रमसे तपरूप
साधनके द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश
करके आनन्दको ब्रह्मरूपसे जानता
है वह इस प्रकार विद्यामें
स्थिति लाभ करनेसे आनन्द अर्थात्
परब्रह्ममें स्थिति प्राप्त करता है, यानी
ब्रह्म ही हो जाता है ।

अब उसका दृष्ट (इस लोकमें
प्राप्त होनेवाला) फल बतलाया
जाता है—अन्नवान्—जिसके पास

इत्यन्नवान् । सत्तामात्रेण तु
सर्वो ह्यन्नवानिति विद्याया
विशेषो न स्यात् । एवमन्नमत्ती-
त्यन्नादो दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थः ।
महान्भवति । केन महत्त्वमित्यत
आह—प्रजया पुत्रादिना पशु-
भिर्गवाश्वादिभिर्ब्रह्मवर्चसेन शम-
दमज्ञानादिनिमित्तेन तेजसा ।
महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या
शुभप्रचारनिमित्तया ॥१॥

बहुत-सा अन्न हो उसे अन्नवान्
कहते हैं ।* अन्नकी सत्तामात्रसे तो
सभी अन्नवान् हैं, अतः [यदि उस
प्रकार अर्थ किया जाय तो]
विद्याकी कोई विशेषता नहीं रहती ।
इसी प्रकार वह अन्नाद—जो अन्न भक्षण
करे यानी दीप्ताग्नि हो जाता है । वह
महान् हो जाता है । उसका महत्त्व
किस कारणसे होता है ? इसपर
कहते हैं—पुत्रादि प्रजा, गौ, अश्व
आदि पशु, तथा ब्रह्मतेज यानी शम,
दम एवं ज्ञानादिके कारण होनेवाले
तेजसे तथा कीर्ति यानी शुभाचरणके
कारण होनेवाली ख्यातिसे वह
महान् हो जाता है ॥ १ ॥

इति भृगुवत्स्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥



* मूलमें केवल 'अन्नवान्' है, भाष्यमें उसका अर्थ 'प्रभूत (बहुतसे)
अन्नवाला' किया गया है । इससे यह शंका होती है कि 'प्रभूत' विशेषणका
प्रयोग क्यों किया गया । इसीका समाधान करनेके लिये आगेका वाक्य है ।

ब्रह्मकर्म अनुष्ठानम्

अन्नकी निन्दा न करनारूप व्रत तथा शरीर और प्राणरूप अन्न-
ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् ।
शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः
प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने
प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्
भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नकी निन्दा न करे । यह ब्रह्मज्ञका व्रत है । प्राण ही अन्न है
और शरीर अन्नाद है । प्राणमें शरीर स्थित है और शरीरमें प्राण स्थित
है । इस प्रकार [एक दूसरेके आश्रित होनेसे वे एक दूसरेके अन्न हैं;
[अतः] ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको
अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित (प्रख्यात) होता है, अन्नवान्
और अन्नभोक्ता होता है । प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता
है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

किं चाग्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म
विज्ञातं यस्मात्तस्माद्गुरुमिव
अन्नं न निन्द्यात्तदस्यैवं ब्रह्म-
विदो व्रतमुपदिश्यते । व्रतोप-

इसके सिवा क्योंकि द्वारभूत
अन्नके द्वारा ही ब्रह्मको जाना है
इसलिये गुरुके समान अन्नकी भी
निन्दा न करे । इस प्रकार ब्रह्म-
वेत्ताके लिये यह व्रत उपदेश किया
जाता है । यह व्रतका उपदेश

देशोऽन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्त्वं
चान्नस्य ब्रह्मोपलब्ध्युपायत्वात् ।

प्राणो वा अन्नम्, शरीरान्त-
र्भावात्प्राणस्य । यद्यस्यान्तः-
प्रतिष्ठितं भवति तत्तस्यान्नं भव-
तीति । शरीरे च प्राणः प्रति-
ष्ठितस्तस्मात्प्राणोऽन्नं शरीरमन्ना-
दम् । तथा शरीरमप्यन्नं प्राणो-
ऽन्नादः । कस्मात् ? प्राणे शरीरं
प्रतिष्ठितम्; तन्निमित्तत्वाच्छरी-
रस्थितेः । तस्मात्तदेतदुभयं शरीरं
प्राणश्चान्नमन्नादश्च । येनान्योन्य-
स्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम् । येना-
न्योन्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः ।
तस्मात्प्राणः शरीरं चोभयमन्न-
मन्नादं च ।

स य एवमेतदन्नमन्ने प्रति-
ष्ठितं वेद प्रतितिष्ठत्यन्नान्नादा-
त्मनैव । किं चान्नवान्नादो भव-
तीत्यादि पूर्ववत् ॥१॥

अन्नकी स्तुतिके लिये है और अन्नकी
स्तुतिपात्रता ब्रह्मोपलब्धिका साधन
होनेके कारण है ।

प्राण ही अन्न है, क्योंकि प्राण
शरीरके भीतर रहनेवाला है । जो
जिसके भीतर स्थित रहता है वह
उसका अन्न हुआ करता है । प्राण
शरीरमें स्थित है, इसलिये प्राण
अन्न है और शरीर अन्नाद है ।
इसी प्रकार शरीर भी अन्न है और
प्राण अन्नाद है; कैसे ?—प्राणमें
शरीर स्थित है, क्योंकि शरीरकी
स्थिति प्राणके ही कारण है । अतः
ये दोनों शरीर और प्राण अन्न और
अन्नाद हैं । क्योंकि वे एक दूसरेमें
स्थित हैं इसलिये अन्न हैं और
क्योंकि एक दूसरेके आधार हैं
इसलिये अन्नाद हैं । अतएव प्राण
और शरीर दोनों ही अन्न और
अन्नाद हैं ।

वह जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें
स्थित जानता है, अन्न और अन्नाद-
रूपसे ही स्थित होता है तथा अन्न-
वान् और अन्नाद होता है—इत्यादि
शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १ ॥

इति भृगुचर्ख्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अन्नम् अन्नम्

अन्नका त्याग न करनारूप व्रत तथा जल और ज्योतिरूप
अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो वा अन्नम् ।
ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः
प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्न-
मन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति ।
महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥१॥

अन्नका त्याग न करे । यह व्रत है । जल ही अन्न है । ज्योति
अन्नाद है । जलमें ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योतिमें जल स्थित है ।
इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको
अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद
होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके
कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अन्नं न परिचक्षीत न परि-
हरेत् । तद्व्रतं पूर्ववत्स्तुत्यर्थम् ।
तदेवं शुभाशुभकल्पनया अपरि-
हियमाणं स्तुतं महीकृतमन्नं स्यात् ।
एवं यथोक्तमुत्तरेष्वप्यापो वा
अन्नमित्यादिषु योजयेत् ॥ १ ॥

अन्नका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग
न करे, यह व्रत है—यह कथन
पूर्ववत् स्तुतिके लिये है । इस
प्रकार शुभाशुभकी कल्पनासे उपेक्षा
न किया हुआ अन्न ही यहाँ स्तुत
एवं महिमान्वित किया जाता है ।
तथा आगेके ‘आपो वा अन्नम्’
इत्यादि वाक्योंमें भी पूर्वोक्त अर्थकी
ही योजना करनी चाहिये ॥१॥

इति भृगुवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

नमः अनुवाक

अन्नसञ्चयरूपं व्रतं तथा पृथिवी और आकाशरूपं अन्न-ब्रह्मके
उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् ।
आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे
पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य
एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो
भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्व्रह्मवर्चसेन ।
महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नको बढ़ावे—यह व्रत है । पृथिवी ही अन्न है । आकाश
अन्नाद है । पृथिवीमें आकाश स्थित है और आकाशमें पृथिवी स्थित है ।
इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको
अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद
होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके
कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अप्सु ज्योतिरित्यब्ज्योति-
घोरान्नादगुणत्वेनोपासकस्या-
न्नस्य बहुकरणं व्रतम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त 'अप्सु ज्योतिः' आदि
मन्त्रके अनुसार जल और ज्योतिकी
अन्न और अन्नाद गुणसे उपासना
करनेवालेके लिये 'अन्नको बढ़ाना
व्रत है' [—यह बात इस मन्त्रमें
कही गयी है] ॥ १ ॥



इति भृगुवल्क्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥



दशम अनुष्ठापक

गृहागत अतिथिको आश्रय और अन्न देनेका विधान
एवं उससे प्राप्त होनेवाला फल; तथा प्रकारान्तरसे
ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्वतम् । तस्माद्यथा
कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्न-
मित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नं श्राद्धम् । मुखतोऽस्मा
अन्नं श्राध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नं श्राद्धम् । मध्यतो-
ऽस्मा अन्नं श्राध्यते । एतद्वै अन्ततोऽन्नं श्राद्धम् ।
अन्ततोऽस्मा अन्नं श्राध्यते ॥ १ ॥

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति
प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः ।
विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः ।
तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति ॥ २ ॥

यश इति पशुषु ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृत-
मानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत ।
प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान्
भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥ ३ ॥

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः ।
तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर

इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि
येऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये
स एकः ॥ ४ ॥

अपने यहाँ रहनेके लिये आये हुए किसीका भी परित्याग न करे । यह व्रत है । अतः किसी-न-किसी प्रकारसे बहुत-सा अन्न प्राप्त करे, क्योंकि वह (अन्नोपासक) उस (गृहागत अतिथि) से 'मैंने अन्न तैयार किया है' ऐसा कहता है । जो पुरुष मुखतः (प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्यवृत्तिसे यानी सत्कारपूर्वक) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मुख्यवृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है । जो मध्यतः (मध्यम आयुमें अथवा मध्यम वृत्तिसे) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यम वृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है । तथा जो अन्ततः (अन्तिम अवस्थामें अथवा निष्कृष्ट वृत्तिसे) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निष्कृष्ट वृत्तिसे ही अन्न प्राप्त होता है ॥ १ ॥ जो इस प्रकार जानता है [उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है । अब आगे प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन किया जाता है—] ब्रह्म वाणीमें क्षेम (प्राप्त वस्तुके परिरक्षण) रूपसे [स्थित है—इस प्रकार उपासनीय है], योग-क्षेमरूपसे प्राण और अपानमें, कर्मरूपसे हाथोंमें, गतिरूपसे चरणोंमें और त्यागरूपसे पाशुमें [उपासनीय है] यह मनुष्यसम्बन्धिनी उपासना है । अब देवताओंसे सम्बन्धित उपासना कही जाती है—तृप्तिरूपसे वृष्टिमें, बलरूपसे विद्युत्में ॥ २ ॥ यशरूपसे पशुओंमें, ज्योतिरूपसे नक्षत्रोंमें, पुत्रादि प्रजा, अमृतत्व और आनन्दरूपसे उपस्थमें तथा सर्वरूपसे आकाशमें [ब्रह्मकी उपासना करे] । वह ब्रह्म सबका प्रतिष्ठा (आधार) है—इस भावसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक प्रतिष्ठावान् होता है । वह महः [नामक व्याहृति अथवा तेज] है—इस भावसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक महान् होता है । वह मन है—इस प्रकार उपासना करे । इससे उपासक मानवान् (मनन करनेमें समर्थ) होता है ॥ ३ ॥ वह नमः है—इस

भावसे उसकी उपासना करे । इससे सम्पूर्ण काम्य पदार्थ उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं । वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । इससे वह ब्रह्मनिष्ठ होता है । वह ब्रह्मका परिमर (आकाश) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । इससे उससे द्वेष करनेवाले उसके प्रति-पक्षी मर जाते हैं, तथा जो अप्रिय भ्रातृव्य (भाईके पुत्र) होते हैं वे भी मर जाते हैं । वह, जो कि इस पुरुषमें है और वह जो इस आदित्यमें है, एक है ॥ ४ ॥

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य

वसतौ वसतिनि-
आतिथ्योपदेशः
मित्तं कंचन कंचि-

दपि न प्रत्याचक्षीत वसत्यर्थ-
मागतं न निवारयेदित्यर्थः ।
वासे च दत्तेऽवश्यं ह्यशनं दात-
व्यम् । तस्माद्यथा कया च
विधया येन केन च प्रकारेण
बहन्नं प्राप्नुयाद्बहन्नसंग्रहं
कुर्यादित्यर्थः ।

यस्मादन्नवन्तो विद्वांसोऽभ्या-
गतायान्नार्थिनेऽराधि संसिद्ध-
मस्मा अन्नमित्याचक्षते न
नास्तीति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति ।
तस्माच्च हेतोर्बहन्नं प्राप्नुयादिति
पूर्वेण संबन्धः । अपि चान्नदा-

तथा पृथिवी और आकाशकी
[अन्न एवं अन्नादरूपसे] उपासना
करनेवालेके यहाँ रहनेके लिये कोई
भी आवे उसे उसका परित्याग नहीं
करना चाहिये । अर्थात् अपने यहाँ
निवास करनेके लिये आये हुए
किसी भी व्यक्तिका वह निवारण
न करे । जब किसीको रहनेका
स्थान दिया जाय तो उसे भोजन भी
अवश्य देना चाहिये । अतः जिस-
किसी भी विधिसे यानी किसी-न-
किसी प्रकार बहुत-सा अन्न प्राप्त
करे; अर्थात् खूब अन्न-संग्रह करे ।

क्योंकि अन्नवान् उपासकगण
अपने यहाँ आये हुए अन्नार्थीसे
'अन्न तैयार है' ऐसा कहते हैं—
'अन्न नहीं है' ऐसा कहकर उसका
परित्याग नहीं करते । इसलिये भी
बहुत-सा अन्न उपार्जन करे—इस
प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे सम्बन्ध

नस्य माहात्म्यमुच्यते । यथा
यत्कालं प्रयच्छत्यन्नं तथा
तत्कालमेव प्रत्युपनमते । कथ-
मिति तदेतदाह—

एतद्वा अन्नं मुखतो मुख्ये
वृत्तिभेदेनात्र- प्रथमे वयसि मु-
दानस्य फलभेदः ख्यया वा वृत्त्या
पूजापुरःसरमभ्यागतायान्नाग्निने
राद्धं संसिद्धं प्रयच्छतीति वाक्य-
शेषः । तस्य किं फलं स्यादि-
त्युच्यते—मुखतः पूर्वं वयसि
मुख्यया वा वृत्त्यास्मा अन्नादा-
यान्नं राध्यते यथादत्तमुपतिष्ठत
इत्यर्थः । एवं मध्यतो मध्यमे
वयसि मध्यमेन चोपचारेण ।
तथाऽन्ततोऽन्ते वयसि जघन्येन
चोपचारेण परिभवेन तथैवास्मै
राध्यते संसिध्यत्यन्नम् ॥ १ ॥

य एवं वेद य एवमन्नस्य
यथोक्तं माहात्म्यं वेद तद्दानस्य
च फलम्, तस्य यथोक्तं फल-
मुपनमते ।

है । अब अन्नदानका माहात्म्य कहा
जाता है—जो पुरुष जिस प्रकार
और जिस समय अन्न-दान करता
है उसे उसी प्रकार और उसी समय
उसकी प्राप्ति होती है । ऐसा किस
प्रकार होता है ? सो बतलाते हैं—

जो पुरुष मुखतः—मुख्य—प्रथम
अवस्थामें अथवा मुख्य वृत्तिसे यानी
सत्कारपूर्वक राद्ध अर्थात् सिद्ध
(पक्क) अन्नको अपने यहाँ आये
हुए अन्नार्थी अतिथिको देता है—
यहाँ प्रयच्छति (देता है) यह
क्रियापद वाक्यशेष (अनुक्त अंश)
है—उसे क्या फल मिलता है, सो
बतलाया जाता है—इस अन्नदाताको
मुखतः—प्रथम अवस्थामें अथवा
मुख्य वृत्तिसे अन्न प्राप्त होता है;
अर्थात् जिस प्रकार दिया जाता है
उसी प्रकार प्राप्त होता है । इसी
प्रकार मध्यतः—मध्यम आयुमें अथवा
मध्यम वृत्तिसे तथा अन्ततः—अन्तिम
आयुमें अथवा निष्कृष्ट वृत्तिसे यानी
तिरस्कारपूर्वक देनेसे इसे उसी
प्रकार अन्नकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जो इस प्रकार जानता है—जो
इस प्रकार अन्नका पूर्वोक्त माहात्म्य
और उसके दानका फल जानता है
उसे पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति होती है ।

इदानीं ब्रह्मण उपासनप्रकार
 उच्यते—क्षेम इति
 वाचि । क्षेमो ना-
 मोपात्तपरिरक्षणम् ।

ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठित-
 मित्युपास्यम् । योगक्षेम इति,
 योगोऽनुपात्तस्योपादानम्, तौ
 हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः सतो-
 र्भवतो यद्यपि तथापि न प्राणा-
 पाननिमित्तावेव किं तर्हि ब्रह्म-
 नियितौ ; तस्माद्ब्रह्म योगक्षेमा-
 त्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठित-
 मित्युपास्यम् ।

एवमुत्तरेष्वन्येषु तेन तेना-
 त्मना ब्रह्मैवोपास्यम् । कर्मणो
 ब्रह्मनिर्वर्त्यत्वाद्द्वस्तयोः कर्मा-
 त्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपा-
 स्यम् । गतिरिति पादयोः ।
 विमुक्तिरिति पादौ । इत्येता
 मानुषीर्मनुष्येषु भवा मानुष्यः

अत्र ब्रह्मकी उपासनाका [एक
 और] प्रकार बतलाया जाता है—
 'क्षेम है' इस प्रकार वाणीमें । प्राप्त
 पदार्थकी रक्षा करनेका नाम 'क्षेम'
 है । वाणीमें ब्रह्म क्षेमरूपसे स्थित
 है—इस प्रकार उसकी उपासना
 करनी चाहिये । 'योगक्षेम'—अप्राप्त
 वस्तुका प्राप्त करना 'योग' कहलाता
 है । वे योग और क्षेम यद्यपि
 बलवान् प्राण और अपानके रहते
 हुए ही होते हैं, तो भी उनका
 कारण प्राण एवं अपान ही नहीं
 है । तो उनका कारण क्या है ?
 वे ब्रह्मके कारण ही होते हैं । अतः
 योगक्षेमरूपसे ब्रह्म प्राण और अपान-
 में स्थित है—इस प्रकार उसकी
 उपासना करनी चाहिये ।

इसी प्रकार आगेके अन्य पर्यायों-
 में भी उन-उनके रूपसे ब्रह्मकी ही
 उपासना करनी चाहिये । कर्म
 ब्रह्मकी ही प्रेरणासे निष्पन्न होता
 है; अतः हाथोंमें ब्रह्म कर्मरूपसे स्थित
 है—इस प्रकार उसकी उपासना
 करनी चाहिये । चरणोंमें गतिरूपसे
 और पायुमें विसर्जनरूपसे [प्रतिष्ठित
 समझकर उसकी उपासना करे] ।
 इस प्रकार यह मानुषी-मनुष्योंमें

समाज्ञाः, आध्यात्मिक्यः समाज्ञा
ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानी-
त्यर्थः ।

अथानन्तरं दैवीदैव्यो देवेषु

भवाः समाज्ञा उ-
'दैवी समाज्ञा'
च्यन्ते । तृप्तिरिति

वृष्टौ । वृष्टेरन्नादिद्वारेण तृप्ति-
हेतुत्वाद्ब्रह्मैव तृप्त्यात्मना वृष्टौ
व्यवस्थितमित्युपास्यम् । तथान्येषु
तेन तेनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम् ।
तथा बलरूपेण विद्युति ॥ २ ॥
यशोरूपेण पशुषु । ज्योतीरूपेण
नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतममृतत्व-
प्राप्तिः पुत्रेण ऋणविमोक्षद्वारेणा-
नन्दः सुखमित्येतत्सर्वमपस्थनि-
मित्तं ब्रह्मैवानेनात्मनोपस्थे प्रति-
ष्ठितमित्युपास्यम् ।

सर्वं ह्याकाशे प्रतिष्ठितमतो
यत्सर्वमाकाशे तद्ब्रह्मैवेत्युपास्यम् ।
तच्चाकाशं ब्रह्मैव । तस्मात्तत्

रहनेवाली समाज्ञा है, अर्थात् यह
आध्यात्मिक समाज्ञा-ज्ञान-विज्ञान
यानी उपासना है—यह इसका
तात्पर्य है ।

अब इसके पश्चात् दैवी-देव-
सम्बन्धिनी अर्थात् देवताओंमें होने-
वाली समाज्ञा कही जाती है । तृप्ति
इस भावसे वृष्टिमें [ब्रह्मकी उपासना
करे] । अन्नादिके द्वारा वृष्टि तृप्ति-
का कारण है । अतः तृप्तिरूपसे
ब्रह्म ही वृष्टिमें स्थित है—इस प्रकार
उसकी उपासना करनी चाहिये ।
इसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें भी उन-
उनके रूपसे ब्रह्मकी ही उपासना
करनी चाहिये । अर्थात् बलरूपसे
विद्युत्में ॥ २ ॥ यशरूपसे पशुओंमें,
ज्योतिरूपसे नक्षत्रोंमें, प्रजाति
(पुत्रादि प्रजा) अमृत—अर्थात् पुत्र-
द्वारा पितृशृणसे मुक्त होनेके द्वारा
अमृतत्वकी प्राप्ति और आनन्द—सुख
ये सब उपस्थके निमित्तसे ही
होनेवाले हैं; अतः इनके रूपसे
ब्रह्म ही उपस्थमें स्थित है—इस प्रकार
उसकी उपासना करनी चाहिये ।

सब कुछ आकाशमें ही स्थित
है । अतः आकाशमें जो कुछ है
वह सब ब्रह्म ही है—इस प्रकार
उसकी उपासना करनी चाहिये ।
तथा वह आकाश भी ब्रह्म ही है ।

सर्वस्य प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठा-
गुणोपासनात्प्रतिष्ठावान्भवति ।
एवं पूर्वेष्वपि यद्यत्तदधीनं फलं
तद्वत्तैव तदुपासनात्तद्वान्भवतीति
द्रष्टव्यम् । श्रुत्यन्तराच्च—“तं
यथा यथोपासते तदेव भवति”
इति ।

तन्मह इत्युपासीत । महो
महत्त्वगुणवत्तदुपासीत । महान्
भवति । तन्मन इत्युपासीत ।
मननं मनः । मानवान्भवति
मननसमर्थो भवति ॥ ३ ॥ तन्म
इत्युपासीत । नमनं नमो नमन-
गुणवत्तदुपासीत । नम्यन्ते ग्रही-
भवन्त्यस्मा उपासित्रे कामाः
काम्यन्त इति भोग्या विषया
इत्यर्थः ।

अतः वह सबकी प्रतिष्ठा (आश्रय)
है—इस प्रकार उसकी उपासना करे ।
प्रतिष्ठा गुणवान् ब्रह्मकी उपासना
करनेसे उपासक प्रतिष्ठावान् होता
है । ऐसा ही पूर्व सब पर्यायोंमें
समझना चाहिये । जो-जो उसके
अधीन फल है वह ब्रह्म ही है ।
उसकी उपासनासे पुरुष उसी फलसे
युक्त होता है—ऐसा जानना चाहिये ।
यही बात “जिस-जिस प्रकार उसकी
उपासना करता है वह (उपासक)
वही हो जाता है” इस एक दूसरी
श्रुतिसे प्रमाणित होती है ।

वह महः है—इस प्रकार उसकी
उपासना करे । महः अर्थात् महत्त्व
गुणवाला है—ऐसे भावसे उसकी
उपासना करे । इससे उपासक
महान् हो जाता है । वह मन है—
इस प्रकार उसकी उपासना करे ।
मननका नाम मन है । इससे वह
मानवान्—मननमें समर्थ हो जाता है
॥ ३ ॥ वह नमः है—इस प्रकार उसकी
उपासना करे । नमनका नाम ‘नमः’
है अर्थात् उसे नमन-गुणवान् समझ-
कर उपासना करे । इससे उस
उपासकके प्रति सम्पूर्ण काम—जिनकी
कामना की जाय वे भोग्य विषय
नत अर्थात् विनम्र हो जाते हैं ।

तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्म परि-
 वृढतममित्युपासीत । ब्रह्मवांस्तद्-
 गुणो भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर
 इत्युपासीत । ब्रह्मणः परिमरः
 परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता
 विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदि-
 त्योऽग्निरित्येताः । अतो वायुः
 परिमरः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । स
 एष एवायं वायुराकाशेनानन्य
 इत्याकाशो ब्रह्मणः परिमरः,
 तमाकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः
 परिमर इत्युपासीत ।

एनमेवंविदं प्रतिस्पर्धिना
 द्विपन्तोऽद्विपन्तोऽपि सपत्ना यतो
 भवन्त्यतो विशेष्यन्ते द्विपन्तः
 सपत्ना इति, एनं द्विपन्तः
 सपत्नास्ते परिम्रियन्ते प्राणाञ्ज-
 हति । किं च ये चाप्रिया अस्य
 भ्रातृव्या अद्विपन्तोऽपि ते च
 परिम्रियन्ते ।

वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी
 उपासना करे । ब्रह्म यानी सबसे
 बड़ा हुआ है—इस प्रकार उपासना
 करे । इससे वह ब्रह्मवान्—ब्रह्मके—से
 गुणवाला हो जाता है । वह ब्रह्मका
 परिमर है—इस प्रकार उसकी
 उपासना करे । ब्रह्मका परिमर—
 जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य
 और अग्नि—ये पाँच देवता मृत्युको
 प्राप्त होते हैं उसे परिमर कहते हैं;
 अतः वायु ही परिमर है, जैसा कि
 [“वायुर्वायु संवर्गः” इस] एक
 अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । वही
 यह वायु आकाशसे अभिन्न है, इसलिये
 आकाश ही ब्रह्मका परिमर है । अतः
 वायुरूप आकाशकी ‘यह ब्रह्मका
 परिमर है’ इस भावसे उपासना करे ।

इस प्रकार जाननेवाले इस
 उपासकके द्वेष करनेवाले प्रतिपक्षी—
 क्योंकि प्रतिपक्षी द्वेष न करनेवाले
 भी होते हैं इसलिये यहाँ ‘द्वेष
 करनेवाले’ यह विशेषण दिया गया
 है—मर जाते हैं अर्थात् प्राण त्याग
 देते हैं । तथा इसके जो अप्रिय
 भ्रातृव्य होते हैं वे, द्वेष करनेवाले
 न होनेपर भी, मर जाते हैं ।

‘प्राणो वा अन्नं शरीरमन्ना-
त्मानोऽसंसा- दसु’ इत्यारभ्याका-
रित्वस्थापनम् शान्तस्य कार्यस्यै-
वान्नाच्चादत्वमुक्तम् ।

उक्तं नाम किं तेन ?

तेनैतत्सिद्धं भवति—कार्य-
विषय एव भोज्यभोक्तृत्वकृतः
संसारो न त्वात्मनीति । आत्मनि
तु भ्रान्त्योपचर्यते ।

नन्वात्मापि परमात्मनः कार्यं
ततो युक्तस्तस्य संसार इति ।

न; असंसारिण एव प्रवेश-
श्रुतेः । “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रावि-
शत्” (तै० उ० २ । ६ । १)
इत्याकाशादिकारणस्य ह्यसंसा-
रिण एव परमात्मनः कार्येष्वनु-
प्रवेशः श्रूयते । तस्मात्कार्यानु-
प्रविष्टो जीव आत्मा पर एव
असंसारी । सृष्ट्वानुप्राविशदिति
समानकर्तृकत्वोपपत्तेश्च । सर्ग-

‘प्राण ही अन्न है और शरीर
अन्नाद है’ यहाँ से लेकर आकाशपर्यन्त
कार्यवर्गका ही अन्न और अन्नादत्व
प्रतिपादन किया गया है ।

पूर्व०—कहा गया है—सो इससे
क्या हुआ ?

सिद्धान्ती—इससे यह सिद्ध
होता है कि भोज्य और भोक्ताके
कारण होनेवाला संसार कार्यवर्गसे
ही सम्बन्धित है, वह आत्मा में नहीं
है; आत्मा में तो भ्रान्तिवश उसका
उपचार किया जाता है ।

पूर्व०—परन्तु आत्मा भी तो
परमात्माका कार्य है । इसलिये उसे
संसारकी प्राप्ति होना उचित ही है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश-
श्रुति असंसारीका ही प्रवेश प्रति-
पादन करती है । “उसे रचकर वह
पीछेसे उसीमें प्रविष्ट हो गया” इस
श्रुतिद्वारा आकाशादिके कारणरूप
असंसारी परमात्माका ही कार्योमें
अनुप्रवेश सुना गया है । अतः
कार्यमें अनुप्रविष्ट जीवात्मा असंसारी
परमात्मा ही है । ‘रचकर पीछेसे
प्रविष्ट हो गया’ इस वाक्यसे एक
ही कर्ता होना सिद्ध होता है । यदि

प्रवेशक्रिययोश्चैकथेत्कर्ता ततः
कत्वाप्रत्ययो युक्तः ।

प्रविष्टस्य तु भावान्तरापत्ति-
रिति चेत् ?

न; प्रवेशस्यान्यार्थत्वेन
प्रत्याख्यातत्वात् । “अनेन जीवे-
नात्मना” (छा० उ० ६ । ३ ।

२) इति विशेषश्रुतेर्धर्मान्तरेणा-
नुप्रवेशइति चेत् ? न, “तत्त्वमसि”

इति पुनस्तद्भावाक्तेः । भावा-

न्तरापन्नस्यैव तदपोहार्था संप-

दिति चेत् ? न; “तत्सत्यं स

आत्मा तत्त्वमसि” (छा० उ०

६ । ८-१६) इति सामानाधि-

करण्यात् ।

दृष्टं जीवस्य संसारित्वमिति
चेत् ?

सृष्टि और प्रवेशक्रियाका एक ही
कर्ता होगा तभी ‘कत्वा’ प्रत्यय होना
युक्त होगा ।

पूर्व०—प्रवेश कर लेनेपर उसे
दूसरे भावकी प्राप्ति हो जाती है—
ऐसा माने तो ?

सिद्धान्ति?—नहीं, क्योंकि प्रवेश-
का प्रयोजन दूसरा ही है—ऐसा
कहकर हम इसका पहले ही
निराकरण कर चुके हैं ।* यदि
कहो कि “अनेन जीवेन आत्मना”
इत्यादि विशेष श्रुति होनेके कारण
उसका धर्मान्तररूपसे ही प्रवेश
होता है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं,
क्योंकि “वह तू है” इस श्रुतिद्वारा
पुनः उसकी तद्रूपताका वर्णन किया
गया है । और यदि कहो कि भावान्तर-
को प्राप्त हुए ब्रह्मके उस भावका
निषेध करनेके लिये ही वह केवल
दृष्टिमात्र कही गयी है तो ऐसी बात
भी नहीं है, क्योंकि “वह सत्य है,
वह आत्मा है, वह तू है” इत्यादि
श्रुतिसे उसका परमात्माके साथ
सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है ।

पूर्व०—जीवका संसारित्व तो
स्पष्ट देखा है ।

न; उपलब्धुरनुपलब्धत्वात् ।

संसारधर्मविशिष्ट आत्मोप-
लब्धत्वं इति चेत् ?

न; धर्माणां धर्मिणोऽव्यति-
रेकात्कर्मत्वानुपपत्तेः, उष्णप्र-
काशयोर्दाहप्रकाश्यत्वानुपपत्ति-
वत् । त्रासादिदर्शनाद्दुःखित्वा-
द्यनुमीयत इति चेत् ? न; त्रासा-
देर्दुःखस्य चोपलब्धमानत्वान्नो-
पलब्धधर्मत्वम् ।

कापिलकाणादादितर्कशास्त्र-
विरोध इति चेत् ?

न; तेषां मूलाभावे वेद-
विरोधे च भ्रान्तत्वोपपत्तेः ।
श्रुत्युपपत्तिभ्यां च सिद्धमात्म-
नोऽसंसारित्वमेकत्वाच्च ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि जो
(जीव) सबका द्रष्टा है वह देखा
नहीं जा सकता ।

पूर्व०—सांसारिक धर्मोंसे युक्त
आत्मा तो उपलब्ध होता ही है ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है;
क्योंकि धर्म अपने धर्मोंसे अभिन्न
होते हैं अतः वे उसके कर्म नहीं
हो सकते, जिस प्रकार कि [सूर्यके
धर्म] उष्ण और प्रकाशका दाहत्व
और प्रकाश्यत्व सम्भव नहीं है ।
यदि कहो कि भय आदि देखनेसे
आत्माके दुःखित्व आदिका अनुमान
होता ही है—तो ऐसा कहना भी
ठीक नहीं, क्योंकि भय आदि दुःख
उपलब्ध होनेवाले होनेके कारण
उपलब्ध करनेवाले [आत्मा] के
धर्म नहीं हो सकते ।

पूर्व०—परन्तु ऐसा माननेसे तो
कपिल और कणाद आदिके तर्क-
शास्त्रसे विरोध आता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक
नहीं, क्योंकि उनका कोई आधार
न होनेसे और वेदसे विरोध होनेसे
भ्रान्तिमय होना उचित ही है । श्रुति
और युक्तिसे आत्माका असंसारित्व
सिद्ध होता है तथा एक होनेके
कारण भी ऐसा ही जान पड़ता है ।

कथमेकत्वमित्युच्यते—स यथायं	उसका एकत्व कैसे है ? सो सबका
पुरुषे यथासावादित्ये स	सब पूर्ववत् 'वह जो कि इस
एक इत्येवमादि पूर्ववत्	पुरुषमें है और जो यह आदित्यमें
सर्वम् ॥ ४ ॥	है एक है' इस वाक्यद्वारा
	बतलाया गया है ॥ ४ ॥

आदित्य और देहोपाधिक चेतनकी एकता जाननेवाले

उपासकको मिलनेवाला फल

स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमय-
मात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मान-
मुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँ-
ल्लोकान्कामाप्ती कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ।
हा ३ बु हा ३ बु हा ३ बु ॥ ५ ॥

वह जो इस प्रकार जाननेवाला है इस लोक (दृष्ट और अदृष्ट विषय-समूह) से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस प्राणमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, तथा इस आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर इन लोकोंमें कामाप्ती (इच्छा-नुसार भोग भोगता हुआ) और कामरूपी होकर (इच्छानुसार रूप धारण कर) विचरता हुआ यह सामगान करता रहता है—हा ३ बु हा ३ बु हा ३ बु ॥ ५ ॥

अन्नमयादिक्रमेणानन्दसयमा-
त्मानशुपसंक्रम्यैतत्साम गाय-
न्नास्ते ।

सत्यं ज्ञानमित्यस्या ऋचोऽर्थो

सोऽश्नुते व्याख्यातो विस्त-
सर्वान्कामानिति रेण तद्विवरणभूत-
मीमांस्वते यानन्दबल्लथा ।

“सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह
ब्रह्मणा विषयिता” (तै० उ०
२।१) इति तस्य फलवचन-
स्यार्थविस्तारो नोक्तः । के ते
किंविषया वा सर्वे कामाः कथं
वा ब्रह्मणा सह समश्नुत इत्येत-
द्वक्तव्यमितीदमिदानीमारभ्यते—

तत्र पितापुत्राख्यायिकायां
पूर्वविद्याशेषभूतायां तपो ब्रह्म-
विद्यासाधनमुक्तम् । प्राणादेरा-
काशान्तस्य च कार्यस्यान्नान्ना-
दत्वेन विनियोगश्चोक्तः, ब्रह्म-
विषयोपासनानि च । ये च सर्वे

अन्नमय आदिके क्रमसे आनन्द-
मय आत्माके प्रति संक्रमण कर वह
यह सामगान करता रहता है ।

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इस
ऋचाके अर्थकी, इसकी विवरणभूता
ब्रह्मानन्दबल्लीके द्वारा विस्तारपूर्वक
व्याख्या कर दी गयी थी । किन्तु
उसके फलका निरूपण करनेवाले
“वह सर्वज्ञ ब्रह्मस्वरूपसे एक साथ
सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है”
इस वचनके अर्थका विस्तारपूर्वक
वर्णन नहीं किया गया था । वे
भोग क्या हैं ? उनका किन
विषयोंसे सम्बन्ध है ? और किस
प्रकार वह उन्हें ब्रह्मरूपसे एक
साथ ही प्राप्त कर लेता है ?—यह
सब बतलाना है, अतः अब इसीका
विचार आरम्भ किया जाता है—

तहाँ पूर्वोक्त विद्याकी शेषभूत
पितापुत्रसम्बन्धिनी आख्यायिकामें
तप ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिका साधन
बतलाया गया है; तथा आकाशपर्यन्त
प्राणादि कार्यवर्गका अन्न और
अन्नादरूपसे विनियोग एवं ब्रह्म-
सम्बन्धिनी उपासनाओंका प्रतिपादन
किया गया है । इसी प्रकार
आकाशादि कार्यभेदसे सम्बन्धित

कामाः प्रतिनियतानेकसाधन-
साध्या आकाशादिकार्यभेद-
विषया एते दर्शिताः । एकत्वे
पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः ।
भेदजातस्य सर्वस्यात्मभूतत्वात् ।
तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण
सर्वान्कामानेवंचित्समश्नुत इत्यु-
च्यते—सर्वात्मत्वोपपत्तेः ।

कथं सर्वात्मत्वोपपत्तिरित्याह—
पुरुषादित्यस्यात्मैकत्वविज्ञानेना-
पोहोत्कर्षापकर्षावन्नमयाद्यात्मनो-
ऽविद्याकल्पितान्क्रमेण संक्रम्या-
नन्दमयान्तान्सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्मादृश्यादिधर्मकं स्वाभाविक-

एवं प्रत्येकके लिये नियत अनेक
साधनोंसे सिद्ध होनेवाले जो सम्पूर्ण
भोग हैं वे भी दिखला दिये गये हैं ।
परन्तु यदि आत्माका एकत्व स्वीकार
किया जाय तब तो काम और
कामित्वका होना ही असम्भव होगा,
क्योंकि सम्पूर्ण भेदजात आत्मस्वरूप
ही है । ऐसी अवस्थामें इस प्रकार
जाननेवाला उपासक ब्रह्मरूपसे
किस प्रकार एक ही साथ सम्पूर्ण
भोगोंको प्राप्त कर लेता है ? सो
वतलाया जाता है—उसका सर्वात्म-
भाव सम्भव होनेके कारण ऐसा हो
सकता है ।*

उसका सर्वात्मत्व किस प्रकार
सम्भव है ? सो वतलाते हैं—पुरुष
और आदित्यमें स्थित आत्माके
एकत्वज्ञानसे उनके उत्कर्ष और
अपकर्षका निराकरण कर आत्माके
अज्ञानसे कल्पना किये हुए अन्नमयसे
लेकर आनन्दमयपर्यन्त सम्पूर्ण
कोशोंके प्रति संक्रमण कर जो सबका
फलस्वरूप है उस अदृश्यादि धर्म-
वाले स्वाभाविक आनन्दस्वरूप

* तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मकी अमेदोपासना करते-करते उससे
तादात्म्य अनुभव करने लगता है वह सबका अन्तरात्मा ही हो जाता है; इसलिये
सबके अन्तरात्मस्वरूपसे वह सम्पूर्ण भोगोंको भोगता है ।

मानन्दमजममृतमभयमद्वैतं फल-
भूतमापन्न इमाँल्लोकान्भूरादीन-
नुसंचरन्निति व्यवहितेन संबन्धः।
कथमनुसंचरन् ? कामान्नी
कामतोऽन्नमस्येति कामान्नी ।
तथा कामतो रूपाण्यस्येति
कामरूपी । अनुसंचरन्सर्वात्मने-
माँल्लोकानात्मत्वेनानुभवन्—
किम् ? एतत्साम गायन्नास्ते ।

समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वा-
ब्रह्मविदः ज्ञान- नन्यरूपं गायन्ब्रह्म-
गानाभिप्रायः वदयन्नात्मैकत्वं प्र-

ख्यापयँल्लोकानुग्रहार्थं तद्विज्ञान-
फलं चातीव कृतार्थत्वं गायन्ना-
स्ते तिष्ठति । कथम् ? हा ३ बु !
हा ३ बु ! हा ३ बु ! अहो इत्येतस्मिन्-
र्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थम् ॥५॥

अजन्ना, अमृत, अभय, अद्वैत एवं
सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्मको
प्राप्त हो इन भूः आदि लोकोंमें
सञ्चार करता हुआ—इस प्रकार इन
व्यवधानयुक्त पदोंसे इस वाक्यका
सम्बन्ध है—किस प्रकार सञ्चार
करता हुआ ? कामान्नी—जिसको
इच्छासे ही अन्न प्राप्त हो जाय उसे
कामान्नी कहते हैं, तथा जिसे इच्छासे
ही [इष्ट] रूपोंकी प्राप्ति हो
जाय ऐसा कामरूपी होकर सञ्चार
करता हुआ अर्थात् सर्वात्मभावसे
इन लोकोंको अपने आत्मारूपसे
अनुभव करता हुआ—क्या करता है ?
इस सामका गान करता रहता है ।

समरूप होनेके कारण ब्रह्म ही
साम है । उस सबसे अभिन्नरूप
सामका गान—उच्चारण करता हुआ
अर्थात् लोकपर अनुग्रह करनेके लिये
आत्माकी एकताको प्रकट करता
हुआ और उसकी उपासनाके फल
अत्यन्त कृतार्थत्वका गान करता
हुआ स्थित रहता है । किस प्रकार
गान करता है—हा ३ बु ! हा
३ बु ! हा ३ बु ! ये तीन शब्द
'अहो !' इस अर्थमें अत्यन्त विस्मय
प्रकट करनेके लिये हैं ॥ ५ ॥

ब्रह्मवेत्ताद्वारा गाया जानेवाला साम ।

कः पुनरसौ विस्मयः ? किन्तु वह विस्मय क्या है ? सो
इत्युच्यते— बतलाया जाता है—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अहंश्लोककृदहंश्लोककृदहंश्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋताऽस्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाऽभायि । यो मा ददाति स इदेव माऽवाः । अहमन्नमन्नमदन्तमाऽग्नि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवाम् । सुवर्नं ज्योतीः य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥ ६ ॥

मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं ही अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ; मैं ही श्लोककृत् (अन्न और अन्नादके संघातका कर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ । मैं ही इस सत्यासत्यरूप जगत्के पहले उत्पन्न हुआ [हिरण्यगर्भ] हूँ । मैं ही देवताओंसे पूर्ववर्ती विराट् एवं अमृतत्वका केन्द्रस्वरूप हूँ । जो [अन्नस्वरूप] मुझे [अन्नार्थियोंको] देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु [जो मुझ अन्नस्वरूपको दान न करता हुआ स्वयं भोगता है उस] अन्न भक्षण करनेवालेको मैं अन्नरूपसे भक्षण करता हूँ । मैं इस सम्पूर्ण भुवनका पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्यके समान नित्यप्रकाशस्वरूप है । ऐसी यह उपनिषद् [ब्रह्मविद्या] है । जो इसे इस प्रकार जानता है [उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है] ॥ ६ ॥

अद्वैत आत्मा निरञ्जनोऽपि | निर्मल अद्वैत आत्मा होनेपर भी
सन्नहमेवान्नमन्नादश्च । किं चाह- मैं ही अन्न और अन्नाद हूँ, तथा मैं
मेव श्लोककृत् । श्लोको नामा- ही श्लोककृत् हूँ । 'श्लोक' अन्न और
न्नान्नादयोः संघातस्तस्य कर्ता अन्नादके संघातको कहते हैं उसका

चेतनावान् । अन्नस्यैव वा परा-
र्थस्यान्नादार्थस्य सतोऽनेकात्म-
कस्य पारार्थ्येन हेतुना संवात-
कृत् । त्रिरुक्तिर्विषयत्वख्याप-
नार्था ।

अहमस्मि भवादिति । प्रथमजाः
प्रथमजः प्रथमोत्पन्नः जगत्स्य
सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतः ।
देवेभ्यश्च पूर्वम् । अमृतस्य नाभि-
रमृतत्वस्य नाभिर्मध्यं मत्संस्थ-
ममृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः ।

यः कश्चिन्मा मामन्नमन्नार्थि-
भ्यो ददाति प्रयच्छत्यन्नात्मना
ब्रवीति स इदित्थमेवमविनष्टं
यथाभूतमावा अवतीत्यर्थः । यः
पुनरन्यो मामदन्नार्थिभ्यः काले
प्राप्तेऽन्नमत्ति तमन्नमदन्तं भक्ष-
यन्तं पुरुषमहमन्नमेव संप्रत्यञ्चि
भक्षयामि ।

अत्राहैवं तर्हि विभेमि सर्वा-
त्मत्वप्राप्तेर्मोक्षादस्तु संसार एव

चेतनावान् कर्ता हूँ । अथवा परार्थ
यानी अन्नादके लिये होनेवाले अन्नका,
जो पारार्थ्यरूप हेतुके कारण ही
अनेकात्मक हूँ, मैं संवात करनेवाला
हूँ । मूलमें जो तीन बार कहा गया है
वह त्रिसमयत्व प्रकट करनेके लिये है ।

मैं इस ऋत-सत्य यानी मूर्त्ता-
मूर्तरूप जगत्का 'प्रथमजा'-प्रथम
उत्पन्न होनेवाला (हिरण्यगर्भ) हूँ ।
मैं देवताओंसे पहले होनेवाला और
अमृतका नाभि यानी अमरत्वका
मध्य (केन्द्रस्थान) हूँ; अर्थात्
प्राणियोंका अमृतत्व मेरेमें स्थित है ।

जो कोई अन्नरूप मुझे अन्नार्थियों-
को दान करता है अर्थात् अन्नात्म-
भावसे मेरा वर्णन करता है वह
इस प्रकार अविनष्ट और यथार्थ
अन्नस्वरूप मेरी रक्षा करता है ।
किन्तु जो समय उपस्थित होनेपर
अन्नार्थियोंको मेरा दान न कर
खयं ही अन्न भक्षण करता है उस
अन्न भक्षण करनेवाले पुरुषको मैं
अन्न ही खा जाता हूँ ।

इसपर कोई वादी कहता है—
यदि ऐसी बात है तब तो मैं
सर्वात्मत्वप्राप्तिरूप मोक्षसे डरता हूँ;
इससे तो मुझे संसारहीकी प्राप्ति

यतो मुक्तोऽप्यहमन्नभूत् आद्यः
सामन्नस्य ।

एवं मा भैषीः संव्यवहार-
विषयत्वात्सर्वकामाशनस्य अती-
त्यायं संव्यवहारविषयमन्नान्ना-
दादिलक्षणमविद्याकृतं विद्यया
ब्रह्मत्वमापन्नो विद्वांस्तस्य नैव
द्वितीयं वस्त्वन्तरमस्ति यतो
विभेत्यतो न भेतव्यं मोक्षात् ।

एवं तर्हि किमिदमाह—अह-
मन्नमहमन्नाद इति? उच्यते—यो-
ऽयमन्नान्नादादिलक्षणः संव्यव-
हारः कार्यभूतः स संव्यवहार-
मात्रमेव न परमार्थवस्तु । स
एवंभूतोऽपि ब्रह्मनिमित्तो ब्रह्म-
व्यतिरेकेणासन्निति कृत्वा ब्रह्म-
विद्याकार्यस्य ब्रह्मभावस्य स्तुत्य-
र्थमुच्यते । अहमन्नमहमन्नमह-
मन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादो-
ऽहमन्नाद इत्यादि । अतो भया-

हो [यहो अच्छा है], क्योंकि
मुक्त होनेपर मैं भी अन्नभूत होकर
अन्नका भक्ष्य होऊँगा ।

सिद्धान्ती—ऐसे मत डरो, क्योंकि
सब प्रकारके भोगोंको भोगना यह
तो व्यावहारिक ही है । विद्वान् तो
ब्रह्मविद्याके द्वारा इस अविद्याकृत
अन्न-अन्नादरूप व्यावहारिक विषय-
का उल्लङ्घन कर ब्रह्मत्वको प्राप्त हो
जाता है । उसके लिये कोई दूसरी
वस्तु ही नहीं रहती, जिससे कि
उसे भय हो । इसलिये तुझे मोक्षसे
नहीं डरना चाहिये ।

यदि ऐसी बात है तो 'मैं अन्न
हूँ, मैं अन्नाद हूँ' ऐसा क्यों कहा
है—ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता
है—यह जो अन्न और अन्नादरूप
कार्यभूत व्यवहार है वह व्यवहार-
मात्र ही है—परमार्थवस्तु नहीं है ।
वह ऐसा होनेपर भी ब्रह्मका कार्य
होनेके कारण ब्रह्मसे पृथक् असत्
ही है—इस आशयको लेकर ही
ब्रह्मविद्याके कार्यभूत ब्रह्मभावकी
स्तुतिके लिये 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न
हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं अन्नाद हूँ, मैं
अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ' इत्यादि कहा
जाता है । इस प्रकार अविद्याका
नाश हो जानेके कारण ब्रह्मभूत

दिदोषगन्धोऽप्यविद्यानिमित्तो-
ऽविद्योच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीति ।

अहं विश्वं समस्तं भुवनं भूतैः
संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्भवन्तीति
वायिन्धूतानीति भुवनमस्यभवा-
नभिभक्त्यामि परेणेश्वरेण स्वरू-
पेण । सुवर्नं ज्योतीः सुवरा-
दित्यो नकार उपसार्थे । आदित्य
इव सङ्घट्टिभातरादीयं ज्योती-
ज्योतिः प्रकाश इत्यर्थः ।

इति वल्लीद्वयविहितोपनिष-
त्परमात्मज्ञानं तामेतां यथोक्ता-
मुपनिषदं शान्तो दान्त उपरत-
स्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा भृगु-
वत्तपो महदास्थाय य एवं
वेद तस्येदं फलं यथोक्तमोक्ष
इति ॥ ६ ॥

विद्यान्को अविद्याके कारण होनेवाले
भय आदि दोषका गन्ध भी नहीं
होता ।

मैं अपने श्रेष्ठ ईश्वररूपसे विश्व
यानी सम्पूर्ण भुवनका पराभव
(उपसंहार) करता हूँ । जो
ब्रह्मादि भूतों (प्राणियों) के द्वारा
संभजनीय (भोगे जाने योग्य) हैं
अथवा जिसमें भूत (प्राणी) होते
हैं उसका नाम भुवन है । 'सुवर्नं
ज्योतिः'—'सुवः' आदित्यका नाम
है और 'न' उपमाके लिये है; अर्थात्
हमारी ज्योति—हमारा प्रकाश
आदित्यके समान प्रकाशमान है ।

इस प्रकार इन दो वल्लियोंमें कही
हुई उपनिषत् परमात्माका ज्ञान है ।
इस उपर्युक्त उपनिषत्को जो भृगु-
के समान शान्त, दान्त, उपरत,
तितिक्षु और समाहित होकर महान्
तपस्या करके इस प्रकार जानता है
उसे यह उपर्युक्त मोक्षरूप फल
प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इति भृगुवल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

इति श्रीशंकरमहोपाध्यायसंपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्कर-
समाप्ता ॥ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये भृगुवल्ली समाप्ता ॥

समाप्तं कृष्णयजुर्वेदीया तैत्तिरीयोपनिषत् ॥

ॐ

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्थमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुक्मः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् ।
सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् ।
आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमः ।

मन्त्रप्रतीकानि	वर्णा	अनु०	सं०	पृ०
अथाध्यात्मम्	१	३	४	१५
अन्तेवात्युत्तररूपम्	१	३	३	१५
अन्नं न निन्द्यात्	३	७	१	२१४
अन्नं न परिचक्षीत	३	८	१	२१६
अन्नं बहु कुर्वीत	३	९	१	२१७
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्	३	२	१	२०६
अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते	२	२	१	११२
असद्वा इदमग्र आसीत्	२	७	१	१६१
असन्नेव स भवति	२	६	१	१३८
अहं बृक्षस्य रेखा	१	१०	१	५३
अहमन्नमहमन्नम्	३	१०	६	२३३
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	६	१	२११
ऋक्षं च स्वाध्यायप्रवचने च	१	९	१	४९
ओमिति ब्रह्म	१	८	१	४५
ॐ शं नो मित्रः	१	१	१	९
कुर्वाणाचीरमात्मनः	१	४	२	२१
तन्नम इत्युपासीत	३	१०	४	२१८
देवपितृकार्याभ्याम्	१	११	२	५८
न कञ्चन वसतौ	३	१०	१	२१८
नो इतराणि	१	११	३	५८
पृथिव्यन्तरिक्षम्	१	७	१	४२
प्राणं देवा अनु प्राणन्ति	२	३	१	११८
प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	३	१	२०८
ब्रह्मविदाप्नोति परम्	२	१	१	८५
भीषास्माद्वातः पवते	२	८	१	१७०
भूर्भुवः सुवरिति	१	५	१	२९

भृगुर्वै वारुणिः	३	१	१	२०२
मनो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	४	१	२०९
मह इति ब्रह्म	१	५	३	३०
मह इत्यादित्यः	१	५	२	२९
य एवं वेद	३	१०	२	२१८
यतो वाचो निवर्तन्ते	२	९	१	१९६
यतो वाचो निवर्तन्ते	२	४	१	१२६
यश इति पशुपु	३	१०	३	२१८
यशो जनेऽसानि स्वाहा	१	४	३	२६
यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः	१	४	१	२१
ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः	१	११	४	५८
वायुः संचानम्	१	३	२	१५
विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्	३	५	१	२१०
विज्ञानं यज्ञं तनुते	२	५	१	१२९
वेदमनूच्याचार्यो	१	११	१	५८
शं नो मित्रः	१	१२	१	८१
शीक्षां व्याख्यास्यामः	१	२	१	१३
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य	२	८	३	१७०
”	२	८	४	१७१
स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम्	२	८	२	१७०
स य एवंवित्	३	१०	५	२२९
स य एषोऽन्तर्हृदये	१	६	१	३६
स यश्चायं पुरुषे	२	८	५	१७९
सह नौ यशः	१	३	१	१५
सुवरित्वादित्ये	१	६	२	३६



